

समय उसने धवणवेहिलिगोलक्षेत्रके गोमटेश्वरकी एक चमत्कारिक कथा सुनी। जिससे उत्तेजित होकर वह वहाँ गया और बड़े उत्साहके साथ उसने श्रीगोमटेश्वरभगवान्का साभिप्रेक पूजन किया। अपना नाम स्थिर रखनेके लिये कई मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराया। और एक स्वर्णमय मठ स्थापन करके धीमत्सिद्धान्तौचार्यको उस गुरुस्थानके अध्यक्ष कर दिये। और १९६००० दुग (जो उस समय सिक्का प्रचलित था) की वार्षिक आमदनी वाली जागीर, उस क्षेत्रके लिये लगा दी। इसके पश्चात् कलियुग सं. ६०५ विमवसंवत्सरके चैत्र महीनेमें ४ दिशाओंमें ४ शाखावाहन नामक संस्थाओंकी स्थापना भी इसी नरपतिने की। चासुण्डरायके पीछे जो राजा हुए, उन्होंने १०९ वर्षतक उक्त व्यवस्था चलाई। शक सं. ७७७ में चासुण्डराय राजाके द्वारा स्थापन किया हुआ, वह राज्य हयशालदेशके स्वामी बहालवंशीय एक राजाके आधीन हो गया।”

५. शककी ८ वीं शताब्दीमें भारतको पवित्र करने वाले श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यजीने आदिपुराणके मंगलाचरणमें धीनेमिचन्द्रके समकालीन श्रीसिंहनन्दी आचार्यका निम्नलिखित श्लोकसे स्मरण किया है।

“काव्यानुचिन्तने यस्य जटा प्रबलवृत्तयः।

अर्थान् स्मानुबदन्तीव जटोचार्यः स नोऽवतान् ॥”

इन सब प्रमाणोंसे धीनेमिचन्द्रका द्राविडदेशीय प्रतापीराजा चासुण्डरायके साथ अतिशय धार्मिक संबंध और शक सं. ६०५ में अशित्तव निर्विवाद सिद्ध होता है।

अब टीकाकारने बृहद्रथसंगमह पृष्ठ १ में जो द्रव्यसंगमहके कर्ता आदिका निरूपण किया है, उसको स्पष्ट ढङ्गसे देखते हैं तो स्थान, समय और निमित्तकी असमानतासे द्रव्यसंगमहके कर्ता पूर्वोक्त धीनेमिचन्द्रसे भिन्न प्रतीत होते हैं। और—

“भागवतभावगुणं पश्ययगभक्तिपत्रोहिदेन मया।

भगिदं गंधं पवरं सोहेतु बहमुना हरिया ॥”

इस विशेषकारके अत्यन्त गीताके और द्रव्यसंगमहस्य ‘द्रव्यसंगमहमिणे’ इस अन्तिम काव्यके अन्तर्गत और अन्तर्गतकी समानतासे तथा श्लोकप्रतीतिमें विशेषकारादिके कर्ता जो हैं, वे ही द्रव्यसंगमहके कर्ता भी सिद्ध होते हैं। ऐसी दृश्यां हम टीकाकारके कथनको अपमान न कहकर, उक्तकी बुद्धिबलसे पूर्वोक्त धीनेमिचन्द्रके विषयमें ही सिद्ध कर बातना उचित समझते हैं।

कवि अन्तर्दसस्य धारुणगीता राजा भोजदेव विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें हुआ है। परंतु हमने सुना है, कि इतिहासकारोंको इस एक भोजके माननेसे संतोष नहीं होता है। अतः वे कभी कभी यह भोज कहते हैं कि मानवाका राजा एक भोज (बृहभोज) और हो गया है। ऐसी कल्पना करने हैं। वही कल्पना आज हमारे अन्न कण में भी प्रविष्ट हुई है। और निम्नलिखित प्रमाणसे यह कल्पना कल्पना मात्र ही नहीं किन्तु सत्य प्रतीति होती है ॥—

(१) सिद्धन्तकवने धीनेमिचन्द्रका ही अर्थ कराना चाहिये।

(२) अन्तर्दसस्य धारुणगीता राजाके अन्तर्गत सिद्धन्तकी सिद्धा हुआ है। और एक संगमह गुर्वाणी (अन्तर्दसस्य) में धीनेमिचन्द्रो भानुवन्दी सिद्धन्तकी जटाधरः। धनवन्दी धनवृत्तिमा सिद्धन्तकी संस्थाः ॥ १ ॥ इन प्रमाण सिद्धन्तके साथ अन्तर्गत विशेषण देनेसे ‘जटाधर’ का सिद्धन्तकीका ही अर्थ कराना ही ठीक है।

भगवज्जिनसेनाचार्य शककी ८ वीं शताब्दीमें हुए हैं । उन्होंने आदिपुराणके मंगलाचरणमें—

‘चन्द्रांगुशुभ्रयशासं प्रभाचन्द्रकविं स्तुये ।

छत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदालहादितं जगत् ॥ १ ॥’

इस श्लोकसे न्यायकुमुदचन्द्रोदयके कर्ता श्रीप्रभाचन्द्रआचार्यकी स्तुति की है । प्रभाचन्द्र आचार्यने न्यायकुमुदचन्द्रोदयमें “सूर्यका उदय तो हुआ, अब चन्द्रका उदय किया जाता है ।” इस आशयका गद्य देकर, प्रमेयकमलमार्त्तण्डका कर्तृत्व अपनेमें ही स्वीकार किया है । और प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी समामिमें निम्नलिखित पाठ देकर, भोजदेवके राज्यमें धारानगरीमें अपना निवास विदित किया है ।

“इति श्रीभोजदेवराष्ट्र श्रीमद्धारानिवासिना परमपरमंष्टिप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृत-
कर्ममलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निरालप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीश्रामुपपद्भिः
समिति ।”

इस प्रमाणसे शककी ८ वीं शताब्दीके पूर्व मालवदेशमें एक वृद्ध भोजका होना निश्चिन होना है । और यदि वह वृद्ध भोज धीनेमिचन्द्रके समकाल (शककी ७ वीं शताब्दी) में ही हो तो कोई आश्चर्य नहीं । अब रही धीनेमिचन्द्रके मालवदेशमें अस्तित्वकी और गोमध्रेष्टीके निमित्त द्रव्यसंग्रह बनानेकी याचा, सो यह असंभव नहीं । क्योंकि, जैननिर्मण्याचार्य गदा एक स्थानमें न रहकर ग्राम ग्राममें विहार करते हैं । और मन्वजीवोंमें उनका स्वभावसे धार्मिक अनुराग भी रहता है । अतः दक्षिणमें विहार करनेके पूर्व उक्त आचार्यने मालवदेशको मुशोभित किया हो, और जेमे धीचामु-
ण्डरायकी प्रार्थनापर गोमध्रेष्टीदि शास्य रथे । उन्नी प्रकार गोमध्रेष्टीके निमित्त द्रव्यसंग्रह भी रथा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है ।

श्रीनेमिचन्द्रके गुरुजन.

उक्त महाशुभाव धीनेमिचन्द्रके गुरु तीन २ थे । इस विषयकी अन्वेषणा करनेपर गोमध्रेष्टीमें निम्नलिखित गाथायें मिली हैं ।

“जमिऊण अभयणंदिं मुदसागरपारगिदणंदिगुरुं ।

वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं चोच्छे ॥ १ ॥

जमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमद्विधभवभावं ।

वरवीरणंदिचंदिं गिम्मलगुणमिदणंदिगुरुं ॥ २ ॥

जरसय पायपसाएण सांतरंसारजलद्विमुत्तिणो ।

वीरेंदणंदिचच्छे जमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥ ३ ॥

वरेंदणंदिगुरुणो पासे तोऊण सयलसिद्धंयं ।

सिरिक्खणयणंदिगुरुणा ससट्ठानं समुत्तिट्ठं ॥ ४ ॥

अर्थात् जे अमदनन्दीको, क्षुत्सागरके पारगामी इन्दनेदीको और धीवीरनेदीनामीको बदरवार करके प्रभूतिप्रत्यय अधिकारको बहता है । १ । गुणरूपी रत्नोंके भूषण और सिद्धान्तरूपी अज्ञ महोदधिसे उत्पन्न ऐसे धीवीरनेदी चन्द्रमाको और निर्मल गुणोंके धारक धीइन्दनन्दी गुरुको बदरवार करताई । २ । जिनके चरणोंके प्रसाहसे धीवीरनेदी और इन्दनेदीवा स्थि में

(नेमिचन्द्र) संगारगमुद्रके पाठ हुआ, उन धीमयनन्दीको मैं सम्मान करता हूँ । ३ । श्रीः
नन्दी गुरुके पाठ संगारग सिद्धान्तको मुनिरा धीःननन्दनी। गुरुने सम्मानना का मत दिना । १ ।

इन गाथाओंमें सिद्धि होता है कि, श्रीअभयनन्दी, श्रीनन्दी ईश्वरन्दी और जनशब्द
ये चारों महाआचार्य धीनेमिचन्द्रके गुरु थे ।

उक्त चारों आचार्य हमारे चरित्रनायकके गुरु हैं । इस कारण प्रसंगवश इनका भी सम्मान
रीतिमें वर्णन करना उचित समझने हैं । यह इयमकार है—

श्रीअभयनन्दी.

आप धीनेमिचन्द्रके ही गुरु नहीं थे, किन्तु श्रीश्रीनन्दीके भी गुरु थे । इसीलिये श्रीश्रीनन्दी
स्वामीने स्वविरचितचन्द्रप्रमचरितकाव्यकी प्रशस्तिमें आपको अपने गुरु मूर्ति दिये हैं । मैं
निम्नलिखित काव्यमें आपकी प्रशंसा की है ।

मुनिजननुत्पादः प्राज्ञमिध्यापवादः

सकलगुणसमृद्धन्स शिष्यः प्रसिद्धः ।

अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी

स्वमहिमजितसिन्धुभंग्यलोकैकवन्धुः ॥

धीअभयनन्दीके रचे हुए बृहज्जैनेन्द्रव्याकरण १ श्रेयोविधान २ गोमटमारटीका विना सं-
दष्टिकी ३ कर्मप्रकृतिरहस्य ४ तत्त्वार्थसूत्रकी तात्पर्यवृत्ति ५ और पूजाकल्प ६ आदिगाथ
सुने जाते हैं । परन्तु ये सब इन्हींके रचे हुए हैं, या अन्यके, यह निर्णय अभी नहीं हुआ ।

श्रीवीरनन्दी.

ये भी प्रसिद्ध जैनाचार्य हैं । इनके रचे हुए चन्द्रप्रमचरितकाव्य १ आचारमार २ और शि-
ल्पसंहिता ३ ये तीन शास्त्र हैं । इनमें शिल्पिसंहिता अभी तक देखनेमें नहीं आई । आचार मार-
में आपने कईस्थलोंमें श्रीमधचन्द्रत्रैविद्यदेवका अतिशय प्रशंसावाचक पद्योंमें स्मरण किया है । श्री-
अभयनन्दीका कहीं भी नाम नहीं लिया । अतः अनुमान होता है कि, श्रीअभयनन्दीका शिष्यत्व
स्वीकार करनेके पूर्व आप श्रीमधचन्द्रके आश्रयमें रहे हैं । और आचारसारका निर्माण धीनेमिचन्द्रके
अस्तित्वमें किया है । आपके विषयमें निम्नलिखित महाप्रशंसावाचक पद्य हमको बाहुबलीचरित्रमें
मिठा है—

धीचम्पापुरसुप्रसिद्धविलसत्सिंहासनाधीश्वरो

भास्वत्पञ्चसहस्रशिष्यमुनितारसंकुलैर्गवृतः ।

श्रीदेशीगणवाद्दिवर्द्धनकरो भव्यालिङ्गकैरवा-

नन्दो भाति सुवीरनन्दिसुनिचन्द्रो वाक्यचन्द्रातपैः ॥

(१) इन श्रीअभयनन्दी के गुरु श्रीगुणनन्दी आचार्य थे ।

(२) 'शिल्पिसंहिता' यह अतिशय उपयोगी शास्त्र है, अतः पाठकोंको इसके अन्वेषण करनेमें तत्पर
रहना चाहिये ।

(३) आचारमारके कला दूसरे वारनन्दी ही तो भी कोई आशय नहीं । क्योंकि, एक नामके चारक कई
जैनाचार्य हुए हैं ।

अर्थात् चंदापुरस्थ प्रसिद्ध सिंहासन (पट्ट)के स्वामी, पांचहजार मुनिशिष्यरूप तारागणसे वेष्टित, भक्तजीवोंके हृदयरूपी कुमुदको आनन्दित करनेवाले और देशीगणरूपी समुद्रके वृद्धिकारक ऐसे श्री धीरनंदीचंद्रमा अपनी वचनरूपी चंद्रिका (चांदनी) में शोभायमान हैं ॥

श्रीइन्द्रनन्दी.

इनकी प्रशंसा करनेवाले कई श्लोक हमारे देखनेमें आये हैं, परन्तु विस्तारमयमे निम्नलिखित दो श्लोक ही उद्धृत करते हैं ।

माद्यत्प्रत्यार्थिवादिद्विरदपटुघटाटोपकोपापनोदे

वाणी यस्याभिरामा मृगपतिपदवीं गाहते देवमान्या ।

स श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावावुभावी

दैवतः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारधनुः ॥ १ ॥ (मतिपेणप्रशंसि)

दुरितमहनिमहाङ्गयं यदि भो भूरि नरेन्द्रवन्दितम् ।

ननु सेन हि भव्यदेहिने प्रणुन श्रीमुनिमिन्द्रनन्दिनम् ॥ २ ॥ (नीतिशार)

भावार्थ—परवादीरूपी गजन्द्रोके कोपको दूर करनेमें जिनकी देवोंकरके माननीय वाणी सिंहके समान आचरण करती है, वे अनेक भावोंको अनुभव करनेवाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यमें भक्तिके धारक, जिनमतानुकूल आचरणमें निपुण और दैवज्ञ ऐसे श्रीइन्द्रनन्दी जगत्में जयधने रहें । १ । हे भक्तजीवो ! यदि तुमको पापरूपी महकी पीड़ासे भय है, तो बहुतमे राजाओंकरके वंदनीय ऐसे श्रीइन्द्रनन्दी मुनिका सेवन करो । २ ।

उक्त महानुभावके रचे हुए शान्तिचक्रपूजा १ अंकुरारोपण २ मुनिप्रायश्चित्त (प्राज्ञनेमें) ३ प्रतिष्ठापाठ ४ पूजाकरूप ५ प्रतिमासंस्कारारोपणपूजा ६ मातृकार्यप्रपूजा ७ औपधिकरूप ८ भूमिकरूप ९ समयभूषण १० नीतिशार ११ और इन्द्रनंदिसंहिता प्राकृत १२ इत्यादि ग्रन्थ सुननेमें आये हैं । इससे जान पड़ता है कि, आप सिद्धान्तविषयमें ही मौढ नहीं थे, किन्तु चरणानुयोग और मन्त्रशास्त्रमें भी अतिशय निपुण थे । श्रीनेमिचन्द्रने जो प्रतिष्ठापाठ बनाया है, वह भी इन्हींके प्रतिष्ठापाठके आधारसे रचा हुआ है । और इनके पश्चात् होनेवाले प्रायः सभी पूजाप्रकरण और मन्त्रशास्त्र संबंधी शास्त्रकारोंने आपका मत सादर ग्रहण किया है ।

श्रीकानकनन्दी.

इनके विषयमें हमको विशेष परिचय नहीं मिला परंतु जैसे—श्रीअभयनन्दी, श्रीवीरनन्दी, श्रीइन्द्रनन्दी और श्रीनेमिचन्द्र ये चारों आचार्य सैद्धान्तिकचक्रवर्तीके पदसे भूषित थे. उन्हीं प्रकार ये भी सैद्धान्तिकचक्रवर्ती थे.

(१) इनमेंसे नीतिशार, अंकुरारोपण तथा इन्द्रनंदिसंहिता ये तीन ग्रन्थ हमारे देखनेमें भी आये हैं । संहितामें दायभाग आदिषा निरूपण है, परन्तु प्राकृत होनेसे यथार्थ अर्थका भान नहीं होगा । यदि इसकी शुद्ध प्राचीन प्रति और टीका टिप्पणीकी प्राप्ति हो जाय तो उसके आधारमें जैनशास्त्रके दाय-भाग आदि कई व्यषयोंमें सार्वानुष्ठान सुधारा हो सकता है । अतः पाठकोंको इनके अन्वेषणमें स्वयं प्रयत्न करना चाहिये ।

(२) श्रीनेमिचन्द्रप्रतिष्ठापाठ भी अर्पण पुस्तक हमनें देखी है । सुनते हैं दक्षिणमें पूर्व पुस्तक विद्यमान है ।

इस प्रकार हम यथापाम प्रमाणोंद्वारा अनिर्गम्यमं मूळ प्रत्यक्षर श्रुतिविषयका
कांको देकर, अब टीका और टीकाकार श्रीप्रभुदेवजीके विषयमें कुछ लिखनेका

बृहद्रथ्यसंमहकी टीका.

यह तीन हजार श्लोकोंकी संख्याको धारण करती है। इसमें प्रत्यक्ष
पुरुषात् आदि पदद्रव्योंका वर्णन नहीं है, किन्तु पदद्रव्योंके परिज्ञानको
लाया गया है। इसलिये यह टीका अध्यात्मविषयका एक अच्छा ग्रन्थ
मुख्यताको लिये हुए कथन होनेसे अध्यात्मविषय सबसे कठिन विषय है।
नहीं है कि, वे इसके मर्मको समझ सकें। और जो बुद्धिमान हैं, वे भी
न जाननेसे पदपदमें भ्रमान्वित होजाते हैं। यही नहीं, किन्तु कितने ही
कवि और अध्यात्मरसके रसिक धनारसीदासजी केवल समयभारके
गयो भयो न धातम स्वाद्। हुई धनारसिकी दशा जेम अंडको
सार एकबार व्यवहारचारित्रको जलाजुली दे चुके थे। उसी प्रकार
म्बनकर अनेकान्तमय जिनधर्मके शिखरसे पतनको प्राप्त हो
कथनके साथ २ ही व्यवहारका कथन भी विद्यमान होनेसे इस
की कहावत चरितार्थ होती है। और इसके पदनेसे भ्रम उत्पन्न हो
हैं। अतः अध्यात्ममहलमें चढ़नेके लिये इस टीकाको प्रथम सोपान
नहीं है। इसमें प्रसंगवश बहुतेसे उपयोगी विषयोंका वर्णन है, जोकि
कन करनेसे विदित होगा। संस्कृत इसमें ऐसा सरल है कि, जिससे
सकता है। और प्रकृत विषयकी पुष्टिके लिये बंधारथान
काय, तत्त्वानुशासन, लोकविभाग, पञ्चनमस्कारमाहात्म्य और
शास्त्रोंके प्रमाण भी उक्त च से लिखे हुए हैं। जिससे किसी भी
अत एव यह बृहद्रथ्यसंमहकी टीका
नियत है। और जयपुरकी सरकारी संस्कृतयूनीव्हर्सिटीकी
नियत होने वाली है।

श्रीब्रह्म-देवजी.

हमको उक्त टीकाके कर्ता महाशयका नाम देवजी और ब्रह्म
है। जिसको नामके पहिले लगा देनेसे 'ब्रह्म-देवजी' ऐसा शब्द

(१) तत्त्वानुशासन, लोकविभाग और
उत्तम और अनिगम्य उपयोगी जान पड़ते हैं। परन्तु मेर है—कि इनका
शास्त्रों रुपये लगानेवाले धनात्म भाई जिनवाणीको श्रीत्रिनेन्द्रके समान ही
भन सुर्ष करके समस्त मारस्वनीभारोंका मूचीवन्न बननालेमें ती राईमें
अज्ञानद्वारा भग जावे।

(१) 'ब्रह्म' इस शब्दम मुख्यात्मा तत्त्वकारी रूप अर्थको प्रत्य करना

श्रीमल्ल-देवजीका समय.

यद्यपि श्रीमल्लदेवजीने अपने सद्भावसे कब किस वसुधार्मडको मंडित किया । इत्यादि जिज्ञासा-ओंकी पूर्तिके लिये हमारे पास कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है । तथापि बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका पृष्ठ १८२ में बारह हजार श्लोकों प्रमाण पंचनमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थका उल्लेख है । अतः निश्चित होता है कि, पंचनमस्कारमाहात्म्यके कर्ता माणवदेवराय-महारक श्रीसिंहनन्दीके समकालमें अथवा पश्चात् आपका प्रादुर्भाव हुआ है । और प्रसिद्ध महारक श्रीशुभचन्द्रजीने भ्यामीकार्तिकेयानु-प्रेक्षाकी टीकामें द्रव्यसंग्रहकी टीकाका कितना ही पाठ उद्धृत किया है । अतः यह निश्चित होता है कि-महारक श्रीशुभचन्द्रजीके पूर्व आपका सद्भाव था ।

महारक श्रीसिंहनन्दी मूरीश्रीधुतसागरके समकालीन थे । और श्रीधुतसागरजीका अस्ति-त्र विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें अर्थात् सं १५२५ में कई प्रमाणोंसे सिद्ध है । महारक श्रीशुभचन्द्रजीने स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाटीकाकी समाप्ति विक्रम सं. १६१३ में की है । इस कारण विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके मध्यमें किसी भी समय श्रीमल्लदेवजीने अपने अवतारमें माणवदेवको पवित्र किया । ऐसा रट अनुमान किया जाता है ।

श्रीमल्लदेवजीके रचे हुए शास्त्र.

हमारे पास जो शास्त्रकारोंकी नामावली है, उसमें लिखा हुआ है कि, मल्लदेवजीने परमात्म-प्रकाशकी टीका १. बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका २. तत्त्वदीपक ३. ज्ञानदीपक ४. त्रिवर्णाचारदीपक ५. प्रतिष्ठातिलक ६. विवाहपटल ७. और कथाकोश ८. ये आठ शास्त्र रचे हैं । इनके अतिरिक्त हमको समयसारकी सात्पर्यवृत्ति भी इन्हींकी रची हुई जान पड़ती है । क्योंकि उनके और द्रव्यसंग्रहकी टीकाके अन्तका पाठ प्रायः समान है ।

श्रीमल्ल-देवजीकी रचि.

यद्यपि आपकी रचि अप्यात्मविषयमें विशेष थी । तथापि आप निश्चयमात्रक व्यवहार चारित्र्यमें पराहमुख नहीं थे । अतः एक आपने जैसे परमात्मप्रकाशटीका आदि अप्यात्मशास्त्रोंका निर्माण किया है । उसी प्रकार त्रिवर्णाचार्यादि व्यवहारशास्त्रोंको भी रचे है । जो लोग निश्चय और व्यवहारमार्गमें एकान्तके धारक हो रहे हैं । उनको आपका अनुकरण करके सन्मार्गमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

उपसंहार.

इस प्रकार मूठ और टीकाकारके विषयमें जो कुछ सुननेको प्रमाण मिले । उनके अनुसार संक्षेपमें यह प्रस्तावना लिखकर पाठकोंको समर्पण की है । यदि इसमें प्रमाद अथवा जगद्गिहमसंबंधी यद्योचित माधनोंके अभावमें कोई त्रुटि रह गई हो तो विश पाठक उगमें सुचित करें । इत्यन्तम्—

स्थान—मोहनी बजार, संभर,
आदिन हुआ ७ रविवार
श्रीकीरनिर्माण सं. १५११

श्रीमल्लदेवजीके रचे हुए शास्त्र—श्रीमल्लदेवजीके रचे हुए शास्त्र.

अनुवादकी प्रार्थना.

सज्जन-विद्वज्जन-पाठक महाशय !

आज मैं आपके करकमलोंमें इस सटीकवृहद्रव्यसंग्रहके अभूतपूर्व हिंदीभाषानुवादको समर्पण करके कृतार्थ होता हूँ। इस सटीकवृहद्रव्यसंग्रहकी प्रशंसा प्रस्तावनामें बहुत कुछ लिखी जा चुकी है। और इसमें जिन २ उपयोगी विषयोंका वर्णन है, उनका सूचीपत्र भी पृथक् प्रकाशित है। अब यहांपर विशेष वक्तव्य यह है, कि, इस अतिशय लाभप्रद ग्रन्थरत्नका इस अनुवादके पूर्व कोई अनुवाद नहीं था। जिसके न होनेका कारण यह है, कि, जैनसमाजमें संस्कृतशास्त्रोंके अनुवाद (वचनिकायें) रचकर, उनके द्वारा सर्वसाधारणका उपकार करनेवाले श्रीटोडरमल्लजी, व श्रीजयचन्द्ररायजी आदि विद्वान् बहुत ही अल्पसंख्याके धारक हुए हैं। उनसे अपने पर्यायमें जितने शास्त्रोंकी वचनिकायें बन सकीं, उतनी ही वे बनाने पाये। अधिकके लिये विवश रहे। क्योंकि, प्राकृत और संस्कृत भाषामय दो अपार पारावार हैं। इनमें इस लोक और पर लोकसंबन्धी हितोपदेशरूप प्रकाशके धारक तथा पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्मल ऐमे लक्षावधि जैनग्रन्थरत्न विद्यमान हैं। उन सभका देशभाषामें अनुवाद कर देना अथवा अवलोकन करना तो दूर रहा, सूचीपत्र बनाना भी दुःसाध्य है। ऐसी दशामें इस ग्रन्थरत्नका भी वचनिकासे वंचित रह जाना सुसंभव ही था।

आपके पुण्यमभावसे जयपुरस्थ पूर्वविद्वानोंद्वारा स्वीकृत वचनिकानिर्माणरूपकार्यका नाममात्र निर्वाह करनेके लिये जो कुछ सामर्थ्य मुझमें उत्पन्न हुआ है। उसीका यह फल है, कि, मैं २५ वर्षकी अवस्थामें इस दुःखबोध अध्यात्मविषयक महाशास्त्रका सर्वत्रः प्रथम अनुवाद रचकर, उसको आपके करकमलोंमें समर्पित करता हूँ।

यद्यपि मुझको पूर्ववचनिकाकारोंका अनुकरण करके द्वंद्वारीभाषामें ही अनुवाद करना उचित था। परन्तु समयके फेरमें पूर्ववचनिकाओंका भी हीनाधिक्यपूर्वक हिंदीभाषामें अनुवाद होता हुआ देखकर, आधुनिक जैनमताजके संतोवार्थ और अन्य अनुवादकोंको पिष्टपेषणजनित परिधममे रक्षणार्थ मैंने सर्वदेश प्रचलित हिंदीभाषामें ही अनुवाद किया है।

पूर्ववचनिकाकारोंने म्यत्र २ में भावार्थ देकर कठिन विषयको स्पष्ट भी किया है। परन्तु भावार्थके देनेमें बुद्धिहीन विशेष स्वातंत्र्य मिश्रता है। और उन स्वतंत्र्यमें ग्रन्थकारके, प्रकरणके, व शाब्दिक विरुद्ध शिमे जिनका अनुवादमें भी अधिक भय रहता है। इस कारण मैंने ग्रन्थः भावार्थ नहीं दिया है।

कितने ही विशेषज्ञ मनुष्य हिंदीभाषाको भी संस्कृतभाषाकी लघुमगिनी (छोटी बहन बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। अर्थात् जैसे सर्वनामशब्दोंका प्रयोग करके और भिन्न २ दोोंको समासशृंखलामें बांध करके संस्कृतको संक्षिप्त कर लिया जाता है। उसी प्रकार वे हिंदीभाषाको भी संक्षेपरूपमें लाना चाहते हैं। परंतु शास्त्रीयविषयमें वह संक्षेप मुझको रुचि कर नहीं है। क्योंकि—जैसे तारके संक्षिप्त और संकेतित शब्दोंमें उसके आशयज्ञ ही लाम उ सकते हैं, उसी प्रकार जो शब्दके रहस्यज्ञ हैं, उन्हेंको उस संक्षिप्तभाषामें लाम मिल सक है। इसलिये सर्वसाधारण कभी कभी अनर्थमें प्रवृत्त होकर लामके बदले हानिके मा हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण मैंने यथाशक्य सममित्तपदोंको भिन्न २ कर अनुवाद किया है।

एकभाषाके शब्दोंका दूसरी भाषाके शब्दोंमें पूर्ण अनुवाद करके उम अनुवादको सा गुणमंपन्न और शक्तिकर वाक्यपद्धतिमें ले आना फटिन ही नहीं? किन्तु प्रायः अमंभव है अत एव कितने ही अनुवादक मूलके आशयको ग्रहण करके उसको मनोहर भाषामें लि टालते हैं। परन्तु उससे 'किम पद य वाक्यका क्या अनुवाद है' इस जिज्ञासामें सर्वेगाध रणको हताश होना पड़ता है। इसकारण मैंने यह अनुवाद प्रायः मूलके अनुगार लि है और जहांपर भाषा अतिशय विरस होती थी, वहींपर मूलके आशयको ग्रहण किया है।

यद्यपि मैंने सावधानतापूर्वक हीन पुस्तकोंके आधारसे मूलको शुद्ध करके, तदनुग यह अनुवाद लिखा है। तथापि मूलमें अशुद्धता रह जाना संभव है। अतः अशुद्धमूल कारण यदि अनुवाद यथार्थ न हुआ हो तो इस दोषका भागी मैं नहीं हूँ। अपने मम कापी देनेकी क्षीमतामें कितना ही प्राकृतका उक्त च पाठ यथार्थ अनुवादमें बंजित र गया था। उसको अति परिश्रमसे स्पष्ट करके विशेष सूचनामें लगा दिया है। एवं प्रमाद अथवा अनुपस्थितिमें बहुतसे फारोंके अपनेसे अन्य जो कितनी ही अर्थात्संबन्धी हु अशुद्धियां रह गई थी, उनको भी यथाशक्य शुद्धिपत्रद्वारा शुद्ध कर दी हैं। तथा जो दुर्जन मनुष्य हैं, वे अपने स्वभावानुकूल अनुवादमें स्वचनभेद—लिङ्गभेद—सूत्रव्यय—अर्थ मद्द—पुनरुक्ति—भाषावैरस्य और विरामादि चिन्टोंकी अनुचित योजना आदि सुष्ठु दोषोंके ग्रहण करके, उनकी कटी समालोचना किये बिना न रहेंगे। परंतु यदि वे समालोचना परिश्रमको न करके, उन दोषोंसे गुप्त सूचितकर देंगे, तो मैं विशेष कृतज्ञ होकर द्विग वृत्तिमें उन दोषोंको निकाल डालनेका प्रयत्न करूंगा।

आजकल जैनधर्मज्ञ विद्वानोंके आत्म्य अनवकाश तथा निम्नीम राजनस्विक कारण प्राय कितने ही पुस्तकरचयिता निरदृश होकर धर्म व मूलसे विरुद्ध पुस्तकें लिखने लगे हैं। ऐसी पुस्तकोंसे यद्यपि इस समय विशेष हानि न होगी। परंतु ये ही कालांतरमें भाषाके रोचक मनुष्योंके प्रमाणताको प्राप्त होकर धर्म व मूलका तिरस्कार करनेमें समर्थ हो आवेंगी।

इस स्थलमें कोई कह सकते हैं कि यदि ऐसा है तो वह प्रबन्ध किना जावे कि नवीन पुस्तकोंका निर्माण न हो सके। परन्तु यह अनुचित है। क्योंकि, वे उच्चस्थ थे। वे यदि उक्त भयसे डर कर शास्त्र न रचते, तो, आज जो समाजें ज्ञानका उद्योत है, यह किसके आधार पर होता। अतः नवीन पुस्तकोंका न सर्वथा हानिकारक है। हां पुस्तक रचयिता और धर्मके विशेषज्ञोंको निरन्तर वह अवश्य रखना चाहिये कि, कोई पुस्तक विरुद्ध न बन जावे।

यद्यपि मैंने यह अनुवाद बहुत विचारपूर्वक लिखा है। अतः सहसा नहीं है। तथापि सर्वथा निर्दोष है, यह भी मैं नहीं कह सकता। इसलिये समस्त प्रार्थना करता हूँ कि, वे अपने आलस्यको त्याग कर और मुझपर अनुग्रह करके दृष्टिसे इस समस्त अनुवादको मूलसे मिलायें। और जो कुछ विरुद्ध प्रतीत हो, मुझे सूचित करें। जिससे कि यह अनुवाद शुद्ध कर लिया जावे और फिर इस निर्दोषतामें किसीप्रकारका संशय न रहे।

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलकी तरफसे इस बृहद्ब्रह्मसंग्रहका अनुवाद वैय्याकरणार्थ श्रीं ठाकुरप्रसादजीशर्माद्वारा कराया गया था। और मुझको उसके संशोधनका भार दिया या था। परंतु कई विशेषकारणोंसे उस अनुवादकी अपेक्षा न रख कर मुझे सर्वथा नूतन अनुवाद करना पड़ा। इसलिये इस अनुवादजनित यश तथा अपयशका भागी मैं ही हूँ।

अन्तमें जिनकी अहर्निश प्रेरणा और अनुग्रहसे सद्बिद्याको प्राप्त करके मैं इस अनुवादके करनेमें समर्थ हुआ, उन श्रीमती जयपुरस्थजैनमहापाठशालाके प्रबन्धकर्त्ता सौम्यमूर्त्ती सद्बिद्यारसिक पूज्यश्री पं० भोलेलालजीशेठीको, जिनके अनुरोधसे इस द्रव्यसंग्रहके अनुवादन तथा संशोधनकर्ममें प्रवृत्त हुआ, उन श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलके व्यवस्थापक महोदयोंको, और जिन विद्वानोंने इसके अनुवादन व संशोधनमें सहायता दी है, उन सबको कोटिशः धन्यवाद देकर इस प्रार्थनाको समाप्त करता हूँ। इत्यलम्।

रिजवादादी कुम्हार वि. सं. १९६४, }
ता० १८-१०-१७ ईस्वी. }

हस्ताक्षर विज्ञानुचर अनुवादक जयपुरनिवासी—
श्रीजवाहरलाल शास्त्री. दि. जैन.

अथ विषयसूची प्रारभ्यते ।

सं.	विषय	पृष्ठ.	वि. सं.	विषय	पृष्ठ.
१	टीकावाग्वा मंगलाचरण. ...	१		'अणुगुरुदेहपमाणो' गाथा० १०.	२०
२	उपोद्धान	"	१६	'जीव निजदारीके भराबर है' यह	
३	तीन अधिकारोंका वर्णन ...	२		वर्णन.	२१
४	प्रथम अधिकारके अंतराधिकार	३		'पुढविजलतेउवाओ' गाथा० ११.	२४
५	प्रथम अंतराधिकारकी समुदायपा-		१७	'जीव कर्मवरा तसस्मावरपनेको	
	तनिका	"		पाता है' यह वर्णन	"
	प्रथम अधिकारके प्रथम अंत-			'समणा अमणा जेया' गाथा० १२.	२५
	राधिकारका प्रारंभ.	४	१८	चौदह जीवसमासोंका वर्णन ...	२६
	"जीवमजीवद्वं" गाथासूत्र १.	"		'मग्गणगुणठाणेहिय' गाथा० १३.	२७
६	मंगलाचरण.	"	१९	चौदह गुणरधान और चौदह मा-	
७	संबंध, अभिधेय और प्रयोजनका			गणा स्थानोंका वर्णन	"
	सूचन.	६		'णिकम्मा अट्टगुणा' गाथा० १४.	३५
	'जीवो लवओगमओ' गाथा० २.	७	२०	सिद्धजीवका स्वरूप और जीवके	
८	जीव आदि नौ ९ अधिकारोंका			ऊर्ध्वगतिसमायका वर्णन ...	३६
	सूचन	"		प्रथम अधिकारके द्वितीय अंत-	
	'तिक्काले चट्टुपाणा' गाथा० ३.	१०		राधिकारका प्रारंभ. ...	४३
९	जीवकी गिद्धिका ध्यारूवान.	"		'अज्जीवो पुण जेओ' गाथा० १५.	"
	'इवओगो हुवियप्पो' गाथा० ४.	११	२१	पुद्गलद्रव्यका वर्णन	"
१०	मुख्यतामे दर्शनोपयोगका वर्णन.	"		'सरो बंधो सुदुमो' गाथा० १६.	४४
	'णाणं अट्टवियप्पं' गाथा० ५.	१२	२२	पुद्गलद्रव्यके विभाव्यंजनप-	
११	आटप्रकारकज्ञानोपयोगका वर्णन.	"		पायोंका वर्णन	४५
	'अट्टचट्टुणाणदंसण' गाथा० ६.	१५		'गइपरिणयाण धम्मो' गाथा० १७.	४७
१२	नयोंके विभागमे ज्ञान तथा दर्श-		२३	धर्मद्रव्यका वर्णन.	"
	नोपयोगका वर्णन.	"		'ठाणजुदाण अधम्मो' गाथा० १८.	४८
	'वण्णरसपंचगंधा' गाथा० ७.	१७	२४	अधर्म द्रव्यका वर्णन.	"
१३	जीवकी अमूर्तताका वर्णन ...	"		'अवगासदाण जोग्गं' गाथा० १९.	४९
	'पुग्गलकम्मादीणं' गाथा० ८.	१८	२५	आकाश द्रव्यका वर्णन....	"
१४	'जीव कर्त्ता है' यह वर्णन. ...	"		'धम्मधम्म कालो' गाथा० २०.	५०
	'ववहारा सुहट्टुकरं' गाथा० ९.	१९	२६	लोककाशका वर्णन.	"
१५	'जीव भोक्ता है' यह वर्णन ...	"		'द्वयपरिवट्टरूवो' गाथा० २१.	५१

वि. सं.	विषय	पृष्ठ.	वि. सं.	विषय	पृष्ठ.
९५	धर्मध्यानका वर्णन	१७७		कर जो निज आत्मामें स्थिर होना	
९६	शुद्धध्यानका वर्णन	१७८		है यही परमध्यान है' यह वर्णन	१७७
९७	ध्यानको रोकनेवाले रागादिकका वर्णन	१८०		'तत्रमुद्बद्धं शब्दा' गाथा० ५७	२०७
	'पणनीससोलच्छप्पण' गाथा० ४९	१८२	१०७	'ध्यानही सिद्धिके लिये तब ध्यान और मन इन तीनोंमें तन्त्र हो' यह वर्णन	११
९८	पदस्थध्यानका वर्णन	"	१०८	'ध्यानके कारण तब, ध्यान और मन कैसे होते हैं' इस शंकाका समाधान	२०१
	'णट्टुचदुघाइकम्मो' गाथा० ६०	१८४	१०९	'इस समय ध्यान नहीं है' इस शंकाका समाधान	२०४
९९	अर्हत्परमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन.	"	११०	'इस समय मोक्ष नहीं है फिर ध्यानसे क्या प्रयोजन है' इस शंकाका समाधान...	२०६
१००	सर्वज्ञकी सिद्धि	१८५		पुनः मोक्षके विषयमें नयीका विचार	२०७
	'णट्टुकम्मवेहो' गाथा० ५१	१९०	११२	आत्माशब्दका अर्थ	२०९
१०१	सिद्धपरमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन	"		'द्व्यसंगहमिणं सुणिणाहा' काव्य ५८.... ..	२१०
	'दंसणणाणपहाणे' गाथा० ५२	१९१	११३	शास्त्रकारकी प्रार्थना	"
१०२	आचार्यपरमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन.	"		तृतीय अधिकारकी समाप्ति	"
	'जो रयणत्तयजुत्तो' गाथा० ५३	१९३	११४	टीकाकारकी प्रार्थना	२११
१०३	उपाध्याय परमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन.	"	११५	तीनों अधिकारोंके नाम और मन्थकी समाप्ति.	२१२
	'दंसणणाणसममांगं' गाथा० ५४	१९४			
१०४	साधुपरमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन	"			
	'जं किंचिवि चिंततो' गाथा० ५५	१९६			
१०५	निश्चयध्यानके स्वरूपका वर्णन	"			
	'मा चिट्ठह मा जंपह' गाथा० ५६	१९७			
१०६	'मनवचनकायकी प्रवृत्तिकी रोक-				

बृहद्रव्यसंग्रहस्य सामान्यं शुद्धिपत्रम् ।

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पृष्ठ	पंक्ति
मगलनि-	भगलनि-	५	११
रात्य आयरिओ ॥	रात्यमायरिओ ॥	६	१
व्याख्यानाम्	व्याख्यानु	"	२
तान्तधातुः	तान्तधातुः	१०	५
विदानन्द	सदा आनन्द	१२	१६
तरवदानके	तरवदानकी प्राप्तिके	"	१७
-दाये ज्ञाने चारिया-	-दायः ज्ञानचारिणा-	१३	७
"पञ्चदशपरोक्षेयं	"पञ्चदशपरोक्षभेयं	१४	३
शान्त्वहारिक प्रत्यक्षदा	सुख्यवहारिका	"	१४
जो विकल्प-	जो रागआदि विकल्प-	"	२५
अपेक्षा	अपेक्षा	"	२८
विषयाया अभावः	"	१५	२८
छद्मस्वप्नानदर्शनकी	छद्मस्वप्नके ज्ञान और दर्शनकी अपूर्णताकी	१६	१२
और भी	और	"	१६
कथन करनेको अभिमत जो पदायै } दे, उग पदायैके ज्ञानरूप बस्तुके }	पदायैके	{	१०
पटिष्यत्	पटिष्यत्	१७	१३
मूर्तं दे	मूर्तं दे इगकारण कर्मबंध होता है	"	१४
जीवने संनारमे	जीवने अनादिघंतारमे	"	१८
त्रिणे-	छो ही दिगज्जाले है रि-	"	१८
उपचरित	अनुपचरित	"	१०
निष्किय, परमभावनामे	और निष्किय परम चिन्मयी भावनामे	१०	१
शुद्ध अनुद्ध भाषोका जो परिणामन } दे, उन्हीका }	परिणामनको प्राप्त होते हुए शुद्ध अनुद्ध भाषोका ही	{	१४
परिणामनोंको	परिणामनोंका चतुर्ण	"	१५
बधोक्ति	त्रिस्त चारण्ये कि	"	१६
मिडन्विचमारण्डिउ-	मिओ-विद्वयमारण्डिओ	११	११
प्राथ	प्राथ	"	२५
प्रकारका विचार (कामादिचिन्तविचार) } उत्पन्न करने का करानेके }	प्रकारकी चिक्रिया करनेके	{ ११	१७
बदायै	उत्त प्रदेरको स्वर्ण करनेके तिये	"	२०
उत्तके	उत्तके मूलसत्ताको न छोड़कर	२३	१
((मिलाव)	"	४

विशेषमूचना ।

शुद्ध अनुवाद.

इस मण्णीणं पाणा सेसेगूणंति मण्णवे णूणा ॥

पज्जत्ते इदरेसु य सत्तदुगे सेसगे ऊणा ॥ २ ॥

पृष्ठ २६ पंक्ति १३.

इस गाथाका भावार्थ पृष्ठ २७ की पंक्ति १ से ५ तक में है, उसके स्थानमें निम्नलिखित भावार्थको शुद्ध समझना चाहिये ।—

पर्याप्त अवस्थामें संज्ञी पंचेन्द्रियोंके १० प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके मनके विना ९ प्राण, चोर्द्वि-
योंके मन और कर्णके विना ८ प्राण, तेर्द्विन्द्रियोंके मन, कर्ण और चक्षुके विना ७ प्राण, वेर्द्विन्द्रियोंके
मन, कर्ण, चक्षु और प्राण के विना ६ प्राण और एकेन्द्रियोंके मन, कर्ण, चक्षु, प्राण, रगना तथा
वचनबलके विना ४ प्राण होते हैं । अपर्याप्तअवस्थाके धारक जीवोंमें संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों
पंचेन्द्रियोंके श्वासोश्वास, वचनबल और मनोबलके विना ७ प्राण होते हैं और चोर्द्विन्द्रिय आदि
एकेन्द्रियपर्यंत शेष जीवोंके कमानुसार एक एक प्राण घटता हुआ है । २ ।

“एयंस्तनुद्धदूरसी” इत्यादि—

पृष्ठ ७६ पंक्ति २७-२८ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ ७७ की पंक्ति २३-२४-२५ में है । उसके स्थानमें निम्नलिखित
अनुवादको शुद्ध समझना चाहिये ।—

“सौंढमतवाळे आदि एकाम्तमिध्यात्वी हैं १ यज्ञ करनेवाळे ब्राह्मण आदि विरगीतमिध्यात्वाके
धारक हैं २ तापम आदि विनयमिध्यात्वी हैं ३ इन्द्राचार्य आदि संदायमिध्यात्वी हैं ४ और मरुती
आदि अज्ञानमिध्यात्वी ५ हैं”

“इंदुरवीदो रिक्कवा”

पृष्ठ ११९ पंक्ति १६-१७ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ ११९ की ३२ वीं और पृष्ठ १२० की १-२ पंक्तिमें है, उसके
स्थानमें निम्नलिखित अनुवादको शुद्ध समझना चाहिये ।—एक गृहर्त्तमें चंद्र १७६८ एवं १८१०
और मक्षत्र १८३५ गगनसंज्ञोंमें गमन करते हैं इसलिये अधिकभागमें मक्षत्रसंज्ञोंके भाग देवेग
ओ गृहर्त्त प्राप्त होते हैं, उन गृहर्त्तोंको चंद्र और एवंके आसन्न गृहर्त्त जानने चाहिये । अर्थात्
उतने गृहर्त्तों तक चंद्रमा और सूर्यकी एक मक्षत्र पर गिथति जाननी चाहिये ।

अवशिष्ट अनुवाद.

इंद्रियवत्तयाऊणिय पुण्णापुण्णे सुपुण्णगे आणा ।

वेर्द्विद्यादिपुण्णेसु- वधीमणो सण्ण पुण्णे य । १ । पृष्ठ २७ पंक्ति ११-१२ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ २७ पंक्ति १ में नहीं छपा है । इसलिये वहांपर निम्नलिखित अनु-
वाद लगा लेना चाहिये ।—

‘इंद्रिय, वाय और आपु ये तीनों प्राण पर्याप्त अपर्याप्त इन दोनों जीवोंमें होते हैं । उष्णमिधा-
स प्राण पर्याप्तजीवोंमें ही होता है । वेर्द्विन्द्रिय आदि पर्याप्तोंमें वायबल प्राण होता है और मनोबल प्राण
पर्याप्तसंज्ञीपंचेन्द्रियोंमें ही होता है । १ ।

“गुणजीवापज्जत्ती” इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ १५ पंक्ति १४ में लगा लेना
चाहिये ।

“गुणस्थान १४, जीवमगम ९८, पर्यागी ६, प्राग १०, मेगा ४, गतिमार्गणा ४, इन्द्रियमार्गणा ५, कायमार्गणा ६, योगमार्गणा १५, वेदमार्गणा ३, कणायमार्गणा ४, ज्ञानमार्गणा ८, मयमार्गणा ७, दर्शनमार्गणा ४, ऐन्द्रियमार्गणा ६, भद्र्यमार्गणा २, मय्यकरमार्गणा ६, संजीमार्गणा २, इन्द्रियमार्गणा २, उपयोगमार्गणा २, इन प्रकार की प्रकृति कही है।”

‘सोलसपणवीसणम’ इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ ८४ पंक्ति १५ में देना करलेना चाहिये।—

“मिथ्यादृष्टी गुणस्थानमें १६, सासादनमें २५, मिथ्रमें कुछ नहीं, असंयतमें १०, देगमंतमें ४, प्रगतमें ६, अपगतमें १, अपूर्णकरणनामक ८ वें गुणस्थानके जो ७ भाग हैं, उनमें प्रथमभागमें २, छठवें भागमें ३०, और सप्तमभागमें ४, अनिवृत्तिकरणमें ५, सूक्ष्ममांसायमें १६ उपसातकपाय और क्षीणकपायमें कुछ नहीं, सयोगकेवलीमें १ और अयोगकेवलीमें कुछ नहीं। इस प्रकार कर्मोंकी प्रकृतियें बंधव्युच्छिन्न हैं अर्थात् उनका ऊपरके गुणस्थानोंमें बंध नहीं है। १।”

“तीसं वासा जम्मे”

पृष्ठ १२९की पंक्ति ११—१२।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ १३० की पंक्ति २ में निम्नलिखित प्रकारसे समझ लेना चाहिये।

“जो जन्मसे ३० वर्ष तककी अवस्थाको सुखमें व्यतीत करके वर्षपृथक्त्व (८ वर्ष) पर्यन्त तीर्थकरके चरणोंमें प्रत्यास्थानको पढ़कर तीनों संख्याकालोंको छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन करता है, उस गुनीके परिहारविशुद्धी संयम होता है। १।”

अनुवादरहित पाठ.

बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी पृष्ठ १० की पंक्ति १५—१६ में स्थित जो “बच्छ—रकर” और पृष्ठ १३५ की पंक्ति १४—१५ में स्थित “रयणदीव” इन दो उक्तंच दोहोंका भावार्थ समझमें नहीं आया इसलिये अनुवाद नहीं लिखा गया है।

अपूर्णपाठकी पूर्ति.

टीकाकारने “अस्त्यात्मानादिवदः” और “जयतिभगवान्” इन दो श्लोकोंको टीकामें अपूर्ण लिखे हैं। उनको निम्नलिखित प्रकारसे पूर्ण करलेने चाहिये।

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्नियुक्ते—

रस्त्यात्मानादिवदः सुकृतजफलमुकृतत्त्वयान्गोक्षभागी।

शाता दृष्टा खदेहप्रमितिरुपसमाहारविम्भारधर्मा

ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः। १।”

(पृष्ठ ८ पंक्ति १४)

जयति भगवान् हेमाभोजप्रचारविजृम्भिताधमरमुकुटीच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।

कलुषहृदया मानोद्धान्ताः परस्परवैरिणो विगतकलुषा पादां यन्म प्रपन्न विशिष्यतुः। १।

(पृष्ठ १४५ पंक्ति ८)

मुद्रणावशिष्ट पाठ

एवं कालद्रव्यव्याख्यानमुच्यतया पञ्चमस्थले सूत्रद्वयं गतम्। इत्यष्टगाथासमुदायेन पञ्चमिः स्वदैरजीवद्रव्यव्याख्यानेन द्वितीयान्तराधिकारः समाप्तः। पृष्ठ ५८ पंक्ति ११



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमत्तेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

बृहद्रव्यसङ्ग्रहः ।

संस्कृतटीकया हिन्दीभाषानुवादेन च सहितः

(अनुपादकस्य महलाचरणम् ।)

श्रीवीरं जिनमानम्य जीवार्जीवावबोधकम् ।

द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थस्य देशभाषां करोम्यहम् ॥ १ ॥

(टीकाकारस्य महलाचरणम् ।)

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।

स्वाभायिकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥ १ ॥

शुद्धजीवादिद्रव्याणां देशकं च जिनेश्वरम् ।

द्रव्यसङ्ग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

भाषार्थः—सिद्ध, त्रैलोक्यते वंदित, स्वभावसे उत्पन्न जो ज्ञान और सुख है उस स्वरूप, कर्ममलसे रहित तथा अविनाशी ऐसे परमात्माको, (सिद्ध परमेष्ठीको), और शुद्ध-जीव आदि पदद्रव्योंका उपदेश देनेवाले श्रीजिनेन्द्रभगवानको प्रणाम करके मैं (ब्रह्मदेव) द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रके सूत्रोंकी वृत्ति (टीका) को संक्षेपसे कहूंगा ॥ १ । २ ॥

अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याभ्रमनामनगरे भीमुनिमुप्रतवीर्यकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंबन्धिसमुत्पन्नमुखागृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःस्वभयभीतस्य परमारमभावनो-स्वप्नमुखमुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नप्रयभावनाप्रियस्य भयवत्पुण्डरीकस्य भाण्डागा-एनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजभेष्टिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं पश्चिदा-तिगायाभिल्लेषुद्रव्यसङ्ग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतस्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्रव्यसङ्ग्रहस्या-धिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारम्भ्यते ।

राजकीयनियमानुसार सर्व हक प्रसिद्धकर्त्ताओंने साधीन रक्खे हैं ।

घोडादनिवासी

श्रीयुत रायचन्द्र रत्ननी गांधी सरफरथी

आ परमशुनग्यातानं भेटदाग्याल

र. २००) यमो लोपेक मे यदल

श्रीपरमशुनप्रभावकगण्टल मरफ. धी आ

श्री नेमिचन्द्रग्यामीविरचित

वृहद्रव्यसङ्ग्रह ।

नामक. मन्थनुं

हिंदीमा भाषान्तर करावी

तेना नामगारण

अपे

तेमने अर्पण करावामा आच्छे ते

“गुणस्थान १४, जीवसमाम ९८, पर्याप्ती ६, प्राग १०, संज्ञा ४, गतिमार्गणा ४, संदिग्ध ५, कायमार्गणा ६, योगमार्गणा १५, वेदमार्गणा ३, कपायमार्गणा ४, ज्ञानमार्गणा ८, संदग्ध ७, दर्शनमार्गणा ४, लेख्यामार्गणा ६, भव्यमार्गणा २, सम्यक्स्वरमार्गणा ६, संज्ञीमार्गणा २, र्मा २, उपयोगमार्गणा २, इस प्रकार वीम प्ररूपणा कही हैं।”

‘सौलसपणवीसणमे’ इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ ८४ पंक्ति १५ में केंते करलेना चाहिये।—

“निभ्याहठी गुणस्थानमें १६, सामादनमें २५, मिथमें कुठ नहीं, असंयतमें १०, देशनमें ४, प्रमतमें ६, अप्रमतमें १, अर्पुकरजननामक ८ वें गुणस्थानके जो ७ भाग हैं, उनमें प्रथममें २, छठवें भागमें ३०, और मममभागमें ४, अनिवृत्तिकरणमें ५, सूक्ष्मर्षारणमें १६ उत्तम भाग और क्षीणकषायमें कुठ नहीं, मयोगकेवयीमें १ और अयोगकेवडीमें कुठ नहीं। इस प्रकार वीमकी प्रवृत्तियें बंगल्युविठम हैं अर्थात् उनका ऊपरके गुणस्थानोंमें बंध नहीं है। १।”

“तीमं वासा जग्मे” पृष्ठ १२९की पंक्ति ११—१२।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ १३० की पंक्ति २ में निम्नलिखित प्रकारसे समझ लेना चाहिये।

“जो जन्ममें ३० वर्ष तककी अवस्थाको गुणमें व्यतीत करके वर्षवृषावर (८ वर्ष) पर्यन्त जीवित रहने परमाणुमें पलायनको वृत्त तीनों मष्याहलीको छोड़कर प्रतिदिन दो कोश गणना करे, उस मुनीके परिहारिगुनी संयम होता है। १।”

अनुवादरहित पाठ.

बहुत कुठ प्रकार कर्मे पर भी पृष्ठ १० की पंक्ति १५-१६ में स्थित जो “वण्ट—रवण” का पृष्ठ १२५ की पंक्ति १४-१५ में स्थित “रवणदीव” इन दो उक्तय दोहोंका भावार्थ समझ नहीं आता इसलिए अनुवाद नहीं किया गया है।

अपूर्णपाठकी प्रति

‘अभ्यासात्मानादिपठ’ और ‘जगतिभगवान’ इन दो पाठोंको टीकामें अनुवाद किया है। इनको निम्नलिखित प्रकारसे पूरा करके पाठिये।

आत्माव विदितुमिच्छा न निजगुणतो ज्ञानवर्तिनिपुण —

रवणवर्तमानादिपठ मुकुलवर्तवृत्तवर्णामोत्रभाषी ।

ज्ञाना वृत्ता आत्मावर्तिनिपुणवर्तमानादिपठामोत्र

‘अभ्यासात्मानादिपठ’ वा ‘जगतिभगवान’ इतो भाववशात् भाष्यवर्तिनिपुणः । १।”

(पृष्ठ ८ पंक्ति १४)

इसके अलावा ‘अभ्यासात्मानादिपठ’ इतिनामकमुकुलवर्तवृत्तवर्णामोत्रभाष्यवर्तिनिपुणः ।

इसके अलावा ‘जगतिभगवान’ इतिनामकमुकुलवर्तवृत्तवर्णामोत्रभाष्यवर्तिनिपुणः । १।

(पृष्ठ १४५ पंक्ति ८)

सूत्रकारिण्युक्त पाठ

इस सूत्रकारिण्युक्त पाठके अलावा ‘अभ्यासात्मानादिपठ’ इतिनामकमुकुलवर्तवृत्तवर्णामोत्रभाष्यवर्तिनिपुणः ।

इसके अलावा ‘जगतिभगवान’ इतिनामकमुकुलवर्तवृत्तवर्णामोत्रभाष्यवर्तिनिपुणः । १।

‘अभ्यासात्मानादिपठ’ इतिनामकमुकुलवर्तवृत्तवर्णामोत्रभाष्यवर्तिनिपुणः । १।



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमत्तैमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहः ।

संस्कृतटीकया हिन्दीभाषानुवादेन च सरितः

(अनुपादकस्य महालाचरणम् ।)

श्रीवीरं जिनमानम्य जीवाजीवायबोधकम् ।

द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थस्य देशभाषां करोम्यहम् ॥ १ ॥

(टीकाकारस्य महालाचरणम् ।)

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं श्रेष्ठोपययन्दितम् ।

स्थाभाषिकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलात्पयम् ॥ १ ॥

सुद्धजीवादिद्रव्याणां देष्टव्यं च जिनेश्वरम् ।

द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थाणां वृत्तिं वक्ष्ये श्रमासतः ॥ २ ॥ पुन्यम् ॥

भाषार्थः—सिद्ध, श्रेष्ठोपयगे वंदित, स्वभावसे उत्पन्न जो ज्ञान और गुण है उस स्व-रूप, कर्ममलसे रहित तथा अविनाशी ऐसे परमात्माको, (सिद्ध परमेष्ठीको), और सुद्ध-जीव आदि बृहद्द्रव्योंका उपदेश देनेवाले श्रीजिनेन्द्रभगवानको मणाम करके श्री (प्रहरेव) द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रके रत्नोंकी वृत्ति (टीका) को संक्षेपसे बतगा ॥ १ । २ ॥

अथ भाष्यबंदसे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकालिकासङ्घकृतिसम्बन्धिनः श्रीपादमण्डलेधरस्य सम्बन्धिन्याभमनामनगरे श्रीगुनिगुप्ततीर्थेश्वरशैलसे सुहा-रमद्रव्यसंबन्धितसंगुत्पन्नगुत्पातसाम्याद्विचरीतनारकादिदुःखभवभीतस्य परमात्मभावबो-ल्यसंगुत्पन्नगुत्पातसंपिपासितस्य भेदाभेदरत्नप्रयभावनोदिस्य अत्यन्तपुण्डरीकस्य अणुद्रागता-यनेकनियोगाधिकारिद्योमाभिधानराजभोगिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवे पूर्व बतूहा-तिगाथाभिलेपुद्रव्यसङ्ग्रहं वृत्ता पश्चाद्विशेषतएवपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहस्या-पिबाराणसिपुर्वकचरेण वृत्तिं प्रारभ्यते ।

अब मैं (श्रीब्रह्मदेव) मास्त्रवा नामक देशमें पारा नामक नगरमें स्वामी गङ्गा जी जदेवनामक कल्हिकान्तवक्त्राँ संवन्धी जो श्रीपाल मंडलेभर में, उनमेंवरी प्राप्ति नाम नगरमें श्रीमुनिमुग्रन तीर्थकरके चैत्यालयमें शुद्ध पैगा जो आत्मात्म इत्य है, ज्ञानमें उत्पन्न पैगा जो सुस्वरूपी अमृतरस, उगठे आस्वाद से विरहीत पैगें जो नफ़ी आदि संबंधी दुःख हैं, उनके भयमें डरा हुआ, परमात्माकी भावनामें उत्पन्न मुग्ध अमृतरसका पानकरनेको (पीनेको) इच्छा रमनेवाला, भेद अभेद रत्नत्रय अर्थात् स्वामी और निश्चय इन दो भेदोंका धारक जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र्य रत्नत्रय है उसकी भावना है प्यारी जिगके, मच्च्यजनगिरोमणी तथा मांडागार (सज्जन आदि अनेक नियोगोंका (कामोंका) स्वामी पैसा जो श्रीसोमनामक राजश्रेष्ठी (राजशेठ) था उसके निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवने पहिले छब्बीस २६ गायामूर्त्तों का शुद्धव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचकर तत्पश्चात् विशेषतत्त्वोंके जाननेके लिये जो बृहद्रव्यसंग्रह नामक शास्त्र निर्मित किया उस बृहद्रव्यसंग्रहग्रंथकी अधिकारशुद्धिपूर्वकतासे अर्थात् पहिले अधिकारोंकी छांट करके तत्पश्चात् वृत्तिको अर्थात् व्याख्या (विशेषवर्णन) को प्रारंभ करता है ।

तत्रादौ “जीवमजीवं दन्वं” इत्यादिसप्तविंशतिगाथापर्यन्तं पद्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः । तदनन्तरं “आसवबंधण” इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादनमुख्यतया द्वितीयो महाधिकारः । ततःपरं “सम्महंसणणां” इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गकथनमुख्यत्वेन तृतीयोऽधिकारश्च । इत्यष्टाधिकपञ्चाशद्गाथाभिरधिकारत्रयं ज्ञातव्यम् ॥

उस बृहद्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रमें प्रथम ही “जीवमजीवं दन्वं” इस गाथाको आदिमें लेकर “जावदियं आयासं” इस सत्ताईसवीं गाथापर्यन्त जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश ५ और काल ६ इन छहों द्रव्योंका तथा जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ और आकाश ५ इन पांचों अस्तिकायोंका निरूपण करनेवाला पद्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा प्रथम अधिकार है । इसके पश्चात् “आसवबंधणसंवर” इस गाथाको आदिमें लेकर “मुहअमुहभावजुत्ता” इस अड़तीसवीं गाथापर्यन्त जीव १ अजीव २ आसव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जेरा ६ और मोक्ष ७, इन सातों तत्त्वोंका और जीव १ अजीव २ आसव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जेरा ६ मोक्ष ७ पुण्य ८ और पाप ९, इन नवों पदार्थोंका मुख्यतासे कथन करनेवाला सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक नामा द्वितीय महा अधिकार है । इसके अनन्तर “सम्महंसणणां” इस गाथासूत्रको आदिमें लेकर बीस २० गायामूर्त्तोंपर्यन्त मुख्य-

१ प्रथम और द्वितीय अधिकारके मध्यमें “परिणामिजीवमुत्तं” इत्यादि दो गायामूर्त्तोंमें प्रथम अधिकारकी चूटिका भी है ।

तासे मोक्षमार्गका कथन करनेवाला मोक्षमार्गप्रतिपादक नामा तृतीय अधिकार है । इस प्रकार अष्टावन गाथाओंसे तीन अधिकार जानने चाहियें ।

तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम् । ततःपरं “अजीवो पुण णेओ” इत्यादिगाथाएकपर्यन्तमजीवद्रव्यकथनम् । ततःपरं “एवं छम्मेयमिदं” एवं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायविवरणम् । इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारत्रयमवबोधव्यम् ॥

उन तीनों अधिकारोंमें भी आदिका जो प्रथम अधिकार है उसमें चौदह १४ गाथा-ओंपर्यन्त जीवद्रव्यका व्याख्यान करनेवाला जीवद्रव्यप्रतिपादक नामा प्रथम अन्तराधिकार है । इसके अनन्तर “अजीवो पुण्णेओ” इस गाथाको आदिमें लेकर “णिकम्मा अट्टगुणा” इस गाथापर्यन्त आठ गाथाओंसे अजीवद्रव्यका वर्णन करनेवाला अजीवद्रव्य-प्रतिपादक नामा द्वितीय अन्तराधिकार है । तत्पश्चात् “एवं छम्मेयमिदं” इसको आदिमें लेकर “जावदियं आयासं” इस गाथापर्यन्त पांच सूत्रोंमें पांचों अस्तिकायोंका निरूपण करनेवाला पञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा तृतीय अन्तराधिकार है । इस प्रकार प्रथम अधिकारमें तीन अन्तराधिकार समझने चाहियें ।

तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारमुत्पत्येन प्रथमगाथा । जीवादिनवाऽधिकारसूचनरूपेण “जीवो उबओगमओ” इत्यादिद्वितीयसूत्रगाथा । तदनन्तरं नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति । तत्राप्यादौ जीवसिद्धयर्थे “तिहाले चदुपाणा” इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं ज्ञानदर्शनोपयोगद्रव्यकथनार्थे “उबओगो दुबियप्पो” इत्यादिगाथात्रयम्, ततःपरममूर्च्छस्वकथनेन “वण्णरसपंचे” इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्वप्रतिपादनरूपेण “पुग्गलक्कम्मादीणं” इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं भोगस्वनिरूपणार्थं “उबहारा सुहदुक्कं” इत्यादिसूत्रमेकम्, ततःपरं स्वदेहप्रमितिमिद्वयार्थं “मणु सुहदेहपमाणो” इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, ततोऽपि संसारिजीवस्वरूपकथनेन “पुटविजलतेउबाओ” इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तरं “णिकम्मा अट्टगुणा” इतिप्रभृतिगाथापूर्वाधेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरुक्तुं गनित्यभावः । इति नमस्कारादिचतुर्दशगाथामेलापनेन प्रथमाऽधिकारे समुदायपातनिका ।

अब प्रथम अधिकारके प्रथम अन्तराधिकारमें जो चौदह गाथा हैं उनमें नमस्कारकी मुख्यतासे प्रथम गाथा है । जीव आदि नव ९ अधिकारोंके सूचनरूपसे “जीवो उबओगमओ” इत्यादि रूप द्वितीयसूत्रगाथा है । इसके अनन्तर नौ ९ अधिकारोंका विशेषवर्णन करने रूपसे बारह १२ सूत्र हैं । उन १२ सूत्रोंमें भी प्रथम ही जीवकी सिद्धिके लिये “तिहाले-चदुपाणा” इत्यादि एक सूत्र है । इसके पश्चात् ज्ञान और दर्शन इन दोनों उपयोगोंका कथन करनेके लिये “उबओगो दुबियप्पो” इत्यादि तीन गाथासूत्र हैं । इसके अनन्तर अमूर्छताका कथन करनेरूपसे “वण्णरसपंचगेथा” इत्यादि एक गाथासूत्र है । तत्पश्चात् जीवके कर्मकर्तृताका प्रतिपादन करनेरूपसे “पुग्गलक्कम्मादीणं” इत्यादि एक

गाथासूत्र है। इसके अनन्तर जीवके कर्मफलका मोक्षापनेका कथन करके "अणुगुरुदेहपयाणो" इत्यादि एक गाथासूत्र है। और इसके अनन्तर संसृष्टीके स्वरूपका कथन करनेरूपसे "पुत्रयिनलतेउवाओ" इत्यादि तीन गाथासूत्र हैं। तब पश्चात् "शिरुम्मा अट्टगुणा" इत्यादि गाथाके पूर्वार्धसे जीवके सिद्धस्वरूपका कथन गया है; और उत्तरार्धसे जीवके ऊर्ध्वगमनस्वभावका वर्णन किया गया है। प्रकार नमस्कारगाथाको आदि लेकर जो चौदह गाथासूत्र हैं, उनका मेल अधिकारमें समुदायपातनिका है ॥

अथेदानी गाथापूर्वार्द्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्द्धेन च यथैवमिष्टदेवतानमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति । अत्र गाथाके पूर्वार्द्धसे संबन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनका कथन करता हूँ, और थाके उत्तरार्द्धसे मंगलके लिये इष्टदेवताको नमस्कार करता हूँ, इस अभिप्रायको मैं धारण करके भगवान् श्रीनेमिचन्द्रस्वामी इस प्रथमसूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

गाथा । जीवमजीवं द्रव्यं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठं ।

देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्यदा सिरसा ॥ १ ॥

गाथाभावार्थः—मैं (श्रीनेमिचन्द्र) जिस जिनवरोंमें प्रधानने जीव और द्रव्यका कथन किया, उस देवेन्द्रादिकोंके समूहसे वंदित तीर्थकर परमदेवको सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

व्याख्या—'वंदे' इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यातं क्रियते एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मारोपणलक्षणभावस्त्वनेन, असद्गतव्यवहारनयेन च पादकवचनरूपद्रव्यस्त्वनेन च 'वंदे' नमस्करोमि । परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यवभाषो नास्ति । स कः कर्ता, अहं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः । कथं वन्दे ? "सव्यदा" स लम् । केन ? "सिरसा" उत्तमाङ्गेन । "तं" कर्मतापन्नं वीतरागसर्वज्ञम् । तं किंकिञ्चि 'देविंदविंदवंदं' मोक्षपदाभिलाषिदेवेन्द्रादिवन्द्यम्, "भवणालयपालीसा वितरदेवाण कलीसा । कप्पामरचउवीसा चंदो सूरु णरो तिरिओ ॥ १ ॥" इति गाथाकथितलक्षणं धातेन वन्दितं देवेन्द्रद्रव्यवन्द्यम् । "जेण" येन भगवता किं कृतं ? "णिदिट्ठं" दिष्टं कथितं प्रतिपादितम् । किं "जीवमजीवं द्रव्यं" जीवाजीवद्रव्यद्वयम् । तथापि, स एतद्वैतन्यायिणो जीवद्रव्यं, तद्विलक्षणं पुत्रलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तापैव विद्यमानं ।

परमविद्योतिःस्वरूपशुद्धजीवादिसत्तत्त्वस्वरूपमुपदिष्टम् । पुनरपि कथम्भूतेन भगवता ? "जि" एकदेशजिनाः असंयतसंस्कारदृष्टवाच्यलोपां वराः गणिते जितवरशृणभस्तीर्थकरपरमदेवसेन जितवर शृणभेर्देवर्षीका क्रियाकारकभावसंबन्धसे पदसंबन्धरूपेण आश्रितः क्रिया जाता है । "वंदे" एकदेशमें शुद्ध ऐसा

निश्चयनय है उसकी अपेक्षासे तो निज-शुद्ध आत्माका आराधन करनेवाले भावसावनसे और अतद्रूपव्यवहारनयकी अपेक्षासे उस निज-शुद्ध-आत्माका प्रतिपादन करनेवाले बच-रूप द्रव्यनयनसे नमस्कार करताहूँ । और परमशुद्धनिश्चयनयसे वन्दवन्दक भाव नहीं है अर्थात् एकदेशशुद्धनिश्चयनय और असद्रूपव्यवहारनयकी अपेक्षासे ही श्रीजिनेन्द्र-वन्दना करनेयोग्य हैं और मैं वन्दना करनेवाला हूँ । और परमशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे वन्द-वन्दक भाव नहीं है । क्योंकि श्रीजिनेन्द्र और मैं इन दोनोंका आत्मा समान ही है । यह नमस्कार करनेवाला कौन है ? मैं द्रव्यसंग्रहमन्थका कर्ता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव हूँ । कब और कैसे नमस्कार करता हूँ ? “सन्वदा” सच कालमें “शिरसा” उचम अंग जो मस्तक है उससे नमस्कार करता हूँ । किसको नमस्कार करता हूँ ? “तं” वन्दन कियाफे कर्मपनेको प्राप्त हुए धीवीतरागसर्वज्ञको (श्रीजिनेन्द्रको) कैसे श्रीजिनेन्द्रको ? “देविन्द-विन्दवन्द” मोक्षपदको चाहनेवाले जो देवेन्द्रादि हैं उनसे वन्दितको अर्थात् “भवनवासि-योके ४० इन्द्र, व्यन्तरदेवोंके ३२ इन्द्र, कल्पवासीदेवोंके २४ इन्द्र, ज्योतिष्कदेवोंके चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्योंका १ इन्द्र (चक्रवर्ती) और तीर्थघांठा १ इन्द्र (सिंहविशेष) ऐसे सब मिलकर सौ १०० इन्द्र हैं । १ ।” इस गाथामें कहे हुए लक्षणके धारक सौ १०० इन्द्रोंसे वन्दितको । जिस भगवान् ने क्या किया है ? “गिदिद्वं” कहा है । किसको कहा है ? “जीवमजीवं दन्वं” जीव और अजीव इस द्रव्यद्वयको कहा है । अर्थात् सहज-शुद्ध चैतन्य आदि लक्षणका धारक जीव द्रव्य है, और इससे विलक्षण (भिन्न लक्षणका धारक) पुद्गल १ धर्म २ अधर्म ३ आकाश ४ और काल ५ इन पांच भेदोंका धारक अजीव द्रव्य है । तथा इसीप्रकार चित्-चमत्काररूप लक्षणका धारक जो शुद्ध जीव अस्तिकाय है, उसको आदिमें लेकर पांच अस्तिकार्योंका, परमज्ञानरूप ज्योतिका धारक जो शुद्ध जीवतत्त्व है, उसको आदिमें लेकर सात तत्त्वोंका, और दोपरहित जो परमात्मा (जीव) है, उसको आदि लेकर नौ ९, पदार्थोंका स्वरूप कहा है । फिर कैसे भगवान् ने कहा है कि—“जिनवरवसहेण” मिथ्यात्व और राग आदिको जीतनेसे असंयतसम्यग्दृष्टी आदिक एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर (श्रेष्ठ) हैं वे जिनवर अर्थात् गणधरदेव हैं, उन जिनवरों (गणवरों) में भी जो प्रधान हों, वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थकरपरमदेव हैं उनने कहा है ।

अत्राभ्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाधित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः । तथाचोक्तं— “श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रमादात्परमेष्ठिनः । इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादी मुनिपुङ्गवाः ॥ १ ॥” अत्र गाथापराङ्मन— “नाम्निकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् । पुण्यावान्निश्च निर्विघ्नः शास्त्रादी सेन संस्तुतिः ॥२॥” इति श्लोककथितफलघनुष्टयं समीक्षमाणा प्रन्थकाराः शास्त्रादी त्रिधा देवतायै त्रिधा नमस्कारं कुर्वन्ति । इत्यादिमङ्गलठथाख्यानं सूचितम् । मङ्गलमित्युपलक्षणम् । उक्तं प— “मंगलनि-

स्वरूप द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ है वह व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) है । इस प्रकार व्याख्यानव्याख्येयरूप तो सम्बन्ध जानना चाहिये । और जो व्याख्या करने योग्य द्रव्यसंग्रहका सूत्र कहा गया है वही अभिधान अर्थात् वाचक (कहनेवाला) कहलाता है । और अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुणोंका आधार (धारक) जो परमात्मा आदिका स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथनकरनेयोग्य विषय है । इस प्रकार अभिधानाभिधेयका स्वरूप जानना चाहिये । व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'पद्द्रव्य आदिका जानना' यह इस ग्रंथका प्रयोजन है । और निश्चयनयसे अपने निर्लेप शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो विकाररहित परमानन्दरूप लक्षणका धारक सुख है, उस सुखरूपी अमृतरसका आस्वादन करनेरूप जो निज आत्माके जाननेरूप ज्ञान है, वह इस ग्रंथका प्रयोजन है । और परमनिश्चयसे उस आत्मज्ञानके फलरूप-केवलज्ञानआदि अनन्तगुणोंके विना न होनेवाली और निज आत्मारूप उपादान कारणसे सिद्ध होनेवाली ऐसी जो अनन्तसुखकी प्राप्ति है, वह हम द्रव्यसंग्रह ग्रन्थका प्रयोजन है । इस प्रकार प्रथम जो नमस्कार गाया है, उसका व्याख्यान किया गया ॥ १ ॥

अथ नमस्कारगाथायां प्रथमं यदुक्तं जीवद्रव्यं तत्सम्बन्धे नवाधिकारान् संक्षेपेण सूचयामीति अभिप्रायं मनसि सम्प्रधायं कथनसूत्रमिति निरूपयति ।

अब मैं नमस्कारगाथामें जो पहिले जीवद्रव्यका कथन किया गया है, उस जीवद्रव्यके संबंधमें नौ अधिकारोंको संक्षेपसे सूचित करता हूं । इस अभिप्रायको मनमें धारण करके अर्थात् जीव आदि नौ अधिकारोंको कहनेवाले इस अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं ॥

जीवो ऽवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्डुगई ॥ २ ॥

गाथाभावार्थः—जो उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, निज शरीरके बराबर है, भोक्ता है, संसारमें स्थित है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है, वह जीव है ॥ २ ॥

व्याख्या । "जीवो" शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनधरनिरुपाधिगुद्दसैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशाद्गुद्दद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीवः । "अवओगमओ" शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वान् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति । "अमुत्ति", यद्यपि व्यवहारेण मूर्त्तकर्मार्थीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णंबला मूर्त्ता सहितत्वान्मूर्त्तत्वापि परमार्थेनामूर्त्तादीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्त्तः । "कत्ता" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियदण्डोत्कीर्णशायकैकस्वभावोऽयं जीवस्तथाप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्मकर्तृत्वान् कर्त्ता । "सदेहपरिमाणो" यद्यपि निश्चयेन सहजगुदलोकाकाशप्रमिततासहृद्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वान् पटादिभाजनस्थप्रदीपवन् स्वदेहपरिमाणः ।

हैं और अपनी आत्मामें उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत है उसका भोगनेवाला है तथापि अशुद्धनयसे उसप्रकारके गुरुरूप अमृतभोजनके अभावसे शुभकर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभकर्मसे उत्पन्न जो दुःख है उनका भोगनेवाला होनेके कारण भोक्ता है। “संसारस्थ” संसारमें स्थित है अर्थात् संसारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसाररहित है और नित्य आनंदरूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्धनयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन भेदोंसे पांचप्रकारके संसारमें रहता है इसकारण संसारस्थ है। “सिद्धो” सिद्ध है। यद्यपि यह जीव व्यवहारनयसे निज आत्माकी प्राप्ति स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है तथापि निश्चयनयसे अनन्त ज्ञान और अनन्त गुण स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है। “सो” वह (इन पहले कहे हुए गुणोंका धारक जीव) “विस्ससोद्गर्ह” स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है। यद्यपि व्यवहारसे चार गतियोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके उदयके वशासे ऊंचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है तथापि निश्चयसे केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमें जानेके समय स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है। यहां पर पदखंडना रूपसे (खंडान्वयकी रीतिसे) शब्दका अर्थ कहा और शुद्ध तथा अशुद्ध इन दोनों नयोंके विभागेसे नयका अर्थ भी कहा है। अब मतका अर्थ कहते हैं। चार्वाकके प्रति जीवकी सिद्धि की गई है, नैयायिकके प्रति जीवका ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण है यह कथन है, भट्ट तथा चार्वाकके प्रति जीवका अमृत स्थापन है, सांख्यके प्रति आत्मा कर्मका कर्ता है ऐसा व्याख्यान है, आत्मा अपने शरीर प्रमाण है यह स्थापन नैयायिक, भीमांसक और सांख्य इन तीनोंके प्रति है, आत्मा कर्मोंका भोक्ता है यह कथन बौद्धके प्रति है, आत्मा संसारस्थ है ऐसा व्याख्यान सदानिवेकके प्रति है, आत्मा सिद्ध है यह कथन भट्ट और चार्वाकके प्रति है, जीवका ऊर्ध्वगमन करना स्वभाव है यह कथन इन सब मतोंके ग्रंथकारोंके प्रति है। ऐसा मतका अर्थ जानना चाहिये। और अनादिकालसे कर्मोंसे बंधा हुआ आत्मा है इत्यादि आगमका अर्थ तो प्रसिद्धही है। शुद्धनयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है वह तो उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है और भाषी सब होय है। इस प्रकार हेयोपादेयरूपसे भावार्थ भी समझना चाहिये। ऐसे शब्दनयके मतसे आगमका भावार्थ यथासंभव व्याख्यानके समयमें सब जगह जानना चाहिये। इस प्रकार जीव आदि नव अधिकारोंको सूचन करनेवाली गाथा समाप्त हुई ॥ २ ॥

अतः परं द्वादशगाथाभिर्नवाधिकारान् विवृणोति, तत्रादौ जीवस्वरूपं कथयति ।

अब इसके आगे द्वादश १२ गाथाओंसे नव अधिकारोंका विवरण करते हैं, उनमें प्रथम ही जीवका स्वरूप कहते हैं।

भवति, "पञ्चकरपरोक्षभेदं च" प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च अवधिमानः पर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं, विम-
 द्भावधिरपि देशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं शेषचतुष्टयं परोक्षमिति । इतो विचारः—आ-
 त्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलारण्यैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूपत्वावन् । स च व्यव-
 हारेणानादिकर्मबन्धप्रच्छादितः सन्मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाद्य
 यहिरङ्गपञ्चन्द्रियमनोऽवलम्बनाद्य मूर्त्तामूर्त्तं वस्तुवेकदेशेन विक्लरूपाकारेण परोक्षरूपेण सांध्य-
 वहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षयोपशमिकं मतिज्ञानम् । किञ्च छद्मस्यानां वीर्या-
 न्तरायक्षयोपशमः केवलज्ञानं तु निरवशेषप्रत्ये ज्ञानं चाग्निप्राप्त्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः ।
 संच्यवहारलक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः संच्यवहारः । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संच्य-
 व्यवहारो भण्यते । संच्यवहारे भवं सांच्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा पटरूपमिदं मया दृष्टमि-
 त्यादि । तथैव क्षुण्णज्ञानावरणक्षयोपशमात्प्रोद्भिद्रयावलम्बनाद्य प्रकाशोपाध्यायादिद्विरङ्ग-
 सहकारिकारणाद्य मूर्त्तामूर्त्तवस्तुलोकालोकाद्यानिज्ञानरूपेण यद्गुणं जानाति तन्परोक्षं क्षुण्ण-
 ज्ञानं भण्यते । किञ्च विमेषः—शब्दात्मकं क्षुण्णज्ञानं परोक्षमेव तावन्, स्वर्गापवर्गादिद्वि-
 र्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विक्लरूपं तदपि परोक्षं, यत्पुनरभ्यन्तरे सुगन्दुःखविक्लरूपो-
 ऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीयत्वपरोक्षम्, यद्य निश्चयभावक्षुण्णज्ञानं तद्य दृष्टान्ता-
 भिमुखसुगन्धसंविद्यस्वरूपं स्वसंविद्याकारेण सविक्लरूपमपीन्द्रियमनोजनिनगगादिविकल्पजा-
 लरहितत्वेन निर्विकलरूपं, अभेदनेयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागानन्दबुध्ध्यातिप्राविनाभूर्त्तं के-
 वलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संस्कारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमपि
 भीयते । अप्रादं शिष्यः—आतो परोक्षमिति तत्त्वार्थगुणं मतिक्षुण्णद्वयं परोक्षं भगितं तिष्ठति
 कथं प्रत्यक्षं भवतीति । परिहारमाह—तदुरसर्गव्याख्यायानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यायानं, यदि
 तदुत्सर्गव्याख्यायानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थं परोक्षं भगितं तिष्ठति । तत्रैतान्ते
 शांध्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जानं । यथा अपवादव्याख्यायानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्ष
 ज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावक्षुण्णज्ञानमपि परोक्षं तत्प्रत्यक्षं भण्यते । यदि पुनरेवागतेन
 परोक्षं भवति तर्हि सुगन्दुःखादिर्गन्धेनमपि परोक्षं प्राप्नोति न च तथा । तथैव च स
 एवात्मा अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमामूर्त्तं वस्तु वेकदेशेप्रत्यक्षेण सविक्लरूपं जानाति
 तदुच्यते । यत्पुनर्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाद्य सच-
 वी-
 यमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविक्लरूपं जानाति तर्हि
 मतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम् । तथैव निजगुणात्तत्त्वार्थव्यवधानेनानुपायान्ता-
 काप्यानेन केवलज्ञानावरणादिपातिचतुष्टयधये सति धारागुणधये तदेव समलक्षणधे-
 प्रकालभावमाहर्कः सर्वप्रकाशोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति ।

व्याख्यानार्थः—“जाणं अट्टवियत्वं” ज्ञान आठ प्रकारका है । “ मदि सुदिओरी
 अणाणणाणाणि” उन आठ प्रकारके भेदके मध्यमें मति, क्षुण तथा अवधि के तीन भेद-
 रवके उदयके परामे विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान होने है (इसीमे बुद्धमति, बुद्ध तथा
 बुद्धवधि [विभेगावधि] के इनके नाम है तथा वेरी मति, क्षुण तथा अवधि इन गुण
 आत्मा आदि तत्त्वके विषयमें विपरीत अभिनिवेशके अभावके कारण सम्बन्धित होनेके मध्य

ज्ञान हो जाते हैं (इस रीतिसे मति आदि तीन अज्ञान और तीन ज्ञान उदयमान होनेसे ज्ञानके ६ भेद हुए) तथा “मणपञ्जवक्रैवलयमधि” मनःपर्यय और केवलज्ञान ये दोनों मिलके ज्ञानके आठ भेद हुए। “पञ्चरत्नपरोभेयं च” इन आठोंमें शक्ति और मनःपर्यय ये दोनों तथा विभंगवधि तो देज्ञप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान मन्त्र प्र हैं, शेष (वाक्रीके) कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं। अब यहाँमें विरूपपूर्वक वर्णन करते हैं। जैसे—आत्मा निश्चयनयसे संपूर्णरूपमें विमल तथा अच्युत एक प्रत्यक्षज्ञानस्वरूप केवलज्ञान है उस ज्ञानस्वरूप है और वही आत्मा व्यवहारात्मनादिकालके कर्मबंधसे आच्छादित होकर, मतिज्ञानके आरण्यके क्षयोपशममें तथा ईश्वरान्तारायके क्षयोपशमसे और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मनके अवलम्बनसे मूर्त अमूर्तवस्तुको एक देशसे विकल्पाकार परोक्षरूपसे अथवा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष जो जानता है वह क्षायोपशमिक मतिज्ञान है। अब यहाँपर विशेष यह जानना च कि छद्मस्थोके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञान चारित्र आदिकी उत्पत्ति सहकारी कारण है और केवलियोंके वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय जो है वह चारित्र आदिकी उत्पत्तिमें सर्वत्र सहकारी कारण है। अब सांख्यवहारिक प्रत्यक्षका तल्लिखते हैं—समीचीन अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप जो व्यवहार है वह संख्यवहारक है, संख्यवहारमें जो हो सो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है; जैसे—यह घटका रूप भेने इत्यादि। ऐसेही श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और नोइन्द्रियके अवलम्बसे प्र और अध्यापक आदि सहकारी कारणके संयोगसे मूर्त तथा अमूर्त वस्तुको लोक अलोककी व्याप्तिरूप ज्ञानसे जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष श्रुतज्ञान कहते हैं इसमें भी विशेष यह है कि शब्दात्मक (शब्दरूप) जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयमें बोध करानेवाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह परोक्ष है और जो आभ्यंतरमें सुख दुःख विकल्परूप है अथवा मैं अनन्त ज्ञान आदि हैं इत्यादि ज्ञान है वह ईपत् (किंचित्) परोक्ष है तथा जो भावश्रुत ज्ञान है वह आत्माके अभिसुख (सन्मुख) होनेसे सुखसंविधि (ज्ञान) स्वरूप है और वह आत्मज्ञानके आकारसे सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्पत हैं उनसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है और अभेद नयसे वही आत्मज्ञान इस शब्द कहा जाता है। तथा वह रागरहित जो सभ्यकृचारित्र है उसके विना नहीं होता। यद्यपि यह केवल ज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है तथापि संसारियोंको धार्मिक ज्ञानकी प्राप्ति होनेमें क्षयोपशमिक होनेपर भी प्रत्यक्ष कहलाता है। यहाँपर शिष्य आशंका करता कि हे गुण, “आये परोक्षम्” इस तत्त्वार्थ सूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है फिर आप इसको प्रत्यक्ष कैसे कहते हो!। अब शंकाका परिहार इस प्रकार क

हे कि: "आद्ये परोक्षम्" इन सूत्रमें जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और यह जो हमने कहा है कि भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है सो उस उत्सर्गका बाधक जो अपवाद है उसकी अपेक्षासे है । यदि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्गका कथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्रमें मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा गया है ! और यदि वह सूत्रमें परोक्षही कहा गया है तो तर्कशास्त्रमें सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ! इसलिये जैसे अपवाद व्याख्यानसे परोक्षरूप भी मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है वैसेही निज आत्माके सन्मुख जो भावधुत ज्ञान है वह परोक्ष है तोभी उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । और यदि एकान्तसे ये मति, श्रुत दोनों परोक्षही होंगे तो मुख दुःख आदिका जो संवेदन (ज्ञान) है वह भी परोक्षही होगा और वह संवेदन परोक्ष नहीं है । इसी रीतिसे वही आत्मा अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मूर्च्छ बन्तुको जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है । और जो मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे अपने मनके अवलम्बनद्वारा परके मनमें प्राप्त हुए मूर्च्छ पदार्थको एकदेश प्रत्यक्षसे सविकल्प जानता है वह यहाँपर मतिज्ञानपूर्वक मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है । इसी प्रकार अपना शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और आचरण करना इन रूप जो एकाम्र ध्यान उसमें केवल ज्ञानावरणादि चार पातिया कर्मोंका नाश होनेपर जो उत्पन्न होता है वह एक समयमें समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावको ग्रहण करने-वाला और सब प्रकारसे उपादेयभूत (ग्रहण करने योग्य) केवल ज्ञान है ॥ ५ ॥

अथ ज्ञानदर्शनोपयोगद्रव्यव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसंहारः कथ्यते ।

अथ ज्ञान तथा दर्शन इन दोनों उपयोगोंके व्याख्यानका नयके विभागसे उपसंहार करते हैं—

गाथा । अट्ट चतु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।

व्यवहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

गाथाभाषार्थः—आठ प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनका जो धारक है वह जीव है । यह व्यवहार नयसे सामान्य जीवका लक्षण है और शुद्ध नयसे शुद्ध जो ज्ञान, दर्शन है वह जीवका लक्षण कहा गया है ।

व्याख्या । "अट्ट चतु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं" अष्टविधं ज्ञानं चतुर्विधं दर्शनं सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् । सामान्यमिति कोऽर्थः संसारिजीवमुक्तीविविधश्च नास्ति, अथवा शुद्धशुद्धज्ञानदर्शनविविधश्च नास्ति । तदपि कथमिति चेत् विविधायामभावः सामान्यलक्षणमिति वक्ष्याम, कस्मात्सामान्यं जीवलक्षणं भणितं "व्यवहारा" व्यवहारान् व्यवहारनयान् । अत्र केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्गतशब्दाच्चोऽनुपचरितसद्गतव्यवहारः, उपास्यज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्गतशब्दाच्च उपचरितसद्गतव्यवहारः, कुमति-

उसके उदयसे व्यवहार नयकी अपेक्षासे जीव मूर्च्छ है तो भी निश्चयसे अमूर्च्छ है ऐसा उपदेश देते हैं ।

गाथा । घण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट णिच्छया जीवे ।

णो संति अमुत्ति तदो घवहारा मुत्ति पंधादो ॥ ७ ॥

गाथाभावार्थः—निश्चयसे जीवमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, और आठ स्पर्श नहीं है इसलिये जीव अमूर्च्छ है और बंधसे व्यवहारकी अपेक्षा करके जीव मूर्च्छ है ॥ ७ ॥

व्याख्या । “घण्ण रस पञ्च गंधा दो फासा अट्ट णिच्छया जीवे णो संति” श्वेतपीतनीलाकृष्ण-कृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः; त्रिककटुककफपायाग्लमधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः; सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, क्षीतोष्णस्निग्धरूग्णमृदुकर्कशगुरुलघुसंज्ञा अष्टौ स्पर्शाः; “णिच्छया” शुद्धनिश्चयनयान् शुद्धपुद्गैकस्यभावे शुद्धजीवे न सन्ति । “अमुत्ति तदो” ततः कारणादमूर्च्छः, यद्यमूर्च्छसिद्धिस्तस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् “ववहारा मुत्ति” अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्च्छां यतस्तदपि कस्मान् “बंधादो” अनन्तज्ञानानुपलम्भलक्षणमोक्षविलक्षणानादिकर्मबन्धनादिति । तथा पौर्क-कथंचिन्मूर्च्छामूर्च्छजीवलक्षणम्—“बंधं पट्टिण्यत्तं लकरणदो ह्वदि तसस भिन्नत्तं । तद्वा अमुत्तिभावो जेगंतो होदि जीवस्स । १ ।” अयमप्रार्थः—यस्यैवामूर्च्छस्यात्मनः प्राप्त्यभावाद्-नादिसंसारं भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्च्छां मूर्च्छपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः । इति भट्टचार्याकमतं प्रत्यमूर्च्छजीवरथापनमुत्पत्यत्वेन सूत्रं गतम् ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—“घण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट णिच्छया जीवे णो संति” श्वेत, नील, पीत (पीला), रक्त (लाल) तथा कृष्ण (काला) ये पांच वर्ण; चरपरा, कटुवा, कपायला, स्रष्टा और मीठा ये पांच रस; सुगन्ध और दुर्गन्ध नामक दो गंध तथा ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर (कड़ा), भारी और हलका यह आठ प्रकारका स्पर्श शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावका धारक जो शुद्ध जीव है उसमें नहीं है । “अमुत्ति तदो” इस हेतुसे यह जीव अमूर्च्छ है अर्थात् मूर्च्छरहित है । शंका—यदि जीव मूर्च्छरहित है तो मूर्च्छिमे शून्य जीवके कर्मका बंध कैसे होता है ? उत्तर—“ववहारा मुत्ति” यद्यपि अमूर्च्छ है तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे मूर्च्छ है । शंका—यह मूर्च्छ भी किस कारणसे है ? उत्तर “बंधादो” अनन्त ज्ञान आदिकी प्राप्तिरूप जो मोक्ष है उग मोक्षसे विपरीत अनादि कर्मोंके बंधनसे है । और कथंचिन् मूर्च्छ तथा अमूर्च्छका लक्षण कहा भी है, जैसे—“बंधके प्रति जीवकी एकता है और लक्षणसे उसकी भिन्नता है इसलिये जीवके अमूर्च्छभाव एकान्तसे नहीं है । १ ।” यदापर तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्च्छ आत्माकी प्राप्तिके अभावसे इस जीवने संसारमें परिभ्रमण किया है उसी अमूर्च्छ शुद्धस्वरूप आत्माको मूर्च्छ पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर, ध्याना चाहिये । इस प्रकार भट्ट और चार्याकके मतके प्रति जीवको मुख्यतासे अमूर्च्छ स्थापन करनेवाला सूत्र समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ निष्क्रियामूर्च्छकोत्कीर्णहायकैकस्वभावेन कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यक्तः
दिनयविभागेन कर्त्ता भवतीति कथयति ।

अथ क्रियारहित, अमूर्च्छ, टंकोत्कीर्ण (शुद्ध), ज्ञानरूप एक स्वभावमे जीवस्य
कर्म आदिके कर्त्तापनेसे रहित है तथापि व्यवहार आदि नयके विभागेसे कर्त्ता है।
ऐसा कथन करते हैं ।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता चवहारदो द्दु णिच्छयदो ।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मा व्यवहारसे पुद्गल कर्म आदिका कर्त्ता है, निश्चयसे च
कर्मका कर्त्ता है और शुद्ध नयसे शुद्ध भावोंका कर्त्ता है ॥ ८ ॥

व्याख्या । अत्र सूत्रे भिन्नप्रकररूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपदं गृहीत्वा व्याख्यातं किं
“आदा” आत्मा “पुग्गलकम्मादीणं कत्ता चवहारदो द्दु” पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहार
पुनः, तथाहि मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्ननुप-
तासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकसारी
याहारादिपदपर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरित्वासद्भूतव्यवहारेण बहिर्वि-
षटपटादीनां च कर्त्ता भवति । “णिच्छयदो चेदणकम्माणादा” निश्चयनयतश्चेतनकं
सद्यथा रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचेतन्यभावनारहितेन यदुपाजितं रागाशु-
दकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसंवित्तिमलभमानो भावकर्मशब्दाच्चरागादिवि-
त्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति । अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्मोपाधि-
त्प्रवृत्ताशुद्धः, सत्काले तत्रायःपिण्डवत्तन्मयत्वात् निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्च-
यभण्यते । “सुद्धणया सुद्धभावाणं” शुभाशुभयोगप्रव्यापाररहितेन शुद्धमुद्देशकस्वभावेन च
परिणमति तदानन्वत्तानमुखादिशुद्धभावानां उच्चस्वावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेश-
दनिश्चयेन कर्त्ता, सुखावस्थायां तु शुद्धनयेनेति । किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानां
कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च ह्यन्नादिव्यापाररूपाणामिति । सतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनि-
त्मस्वरूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भाव-
कर्मव्या । एवं सांख्यमतं प्रत्येकान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ ८ ॥

व्याख्यानार्थः—इस सूत्रमें भिन्न प्रकररूप व्यवहित संबंधसे मध्य (बीचके) पद
ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है । “आदा” आत्मा “पुग्गलकम्मादीणं कत्ता च
हारदो द्दु” व्यवहार नयकी अपेक्षामें पुद्गल कर्म आदिका कर्त्ता है । जैसे—मन, वचन त-
शरीरके व्यापाररूप क्रियामें रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी जो भावना है उस भावना
शून्य होकर उपचरित अमद्भूत व्यवहार नयमें ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका तथा आदि
शब्दमें औदारिक, वैक्रियक और आहारकरूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्त
बौद्ध योग्य जो पुद्गल पिण्डरूप नो (इण) कर्म हैं उनका तथा उसी प्रकार उपचरित

भसन्त व्यवहारसे मात्र विषय घट, पट आदिका भी यह जीव कर्त्ता है। “गिच्छयणपदो चेदणकम्पाणादा” और निश्चय नयकी अपेक्षासे तो यह आत्मा चेतन कर्मोंका कर्त्ता है। सो ऐसे है कि राग आदि विकल्परूप उपाधिसे रहित निष्क्रिय, परमभावनासे रहित ऐसे जीवने जो राग आदिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका उपार्जन किया उन कर्मोंका उदय होनेपर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञानको नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्दसे वाच्य जो रागादि विकल्परूप चेतन कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है। अब अशुद्ध निश्चयका अर्थ कहते हैं। कर्मरूप उपाधिसे उत्पन्न होनेसे अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्निमें तपे हुए लोहके गोलेके समान तन्मय (उसीरूप) होनेसे निश्चय कहा जाता है, इस रीतिसे अशुद्ध और निश्चय इन दोनोंको मिलाके अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। “सुद्वणया सुदभावाणं” जीव जब शुभ तथा अशुभ मनो, वचन, और कायरूप तीनों योगोंके व्यापारसे रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभावसे परिणमता है तब अनंत ज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावोंका छद्मस्य अवस्थामें भावनारूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है और मुक्त अवस्थामें तो शुद्ध निश्चय नयसे अनंत ज्ञानादि शुद्ध भावोंका कर्त्ता है। यहां विशेष यह है कि शुद्ध अशुद्ध भावोंका जो परिणमन है उन्हींका कर्त्तृत्व जीवमें जानना चाहिये और हस्त आदिके व्यापाररूप परिणमनोंको न समझना चाहिये। क्योंकि नित्य, निरंजन, निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित जो जीव है उसीके कर्म आदिका कर्त्तृत्व कहा गया है। इसलिये उस निज शुद्ध आत्मामें ही भावना करनी चाहिये। ऐसे सांख्यमतके प्रति “एकान्तसे जीव कर्त्ता नहीं है” इस मतके नेराकरणकी मुख्यतासे गाथा समाप्त हुई ॥ ८ ॥

अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमाट्मैकलक्षणमुत्सामृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सांसारिकमुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति ।

अथ यद्यपि आत्मा शुद्ध नयसे विकाररहित परम आनंदरूप एक लक्षणका धारक जो सुखरूपी अमृत है उसको भोगनेवाला है तथापि अशुद्ध नयसे संसारमें उत्पन्न हुए जो सुख दुःख हैं उनका भी भोगनेवाला है ऐसा कथन करते हैं ।

व्यवहारा सुहृदुक्त्वं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।

आदा गिच्छयणपदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ९ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मा व्यवहारसे सुख दुःखरूप पुद्गल कर्मोंके फलको भोगता है और निश्चय नयसे आत्मा चेतन स्वभावको भोगता है ॥ ९ ॥

व्याख्या । “व्यवहारा सुहृदुक्त्वं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि” व्यवहारात्सुखदुःखरूपं पुद्गलकर्मफलं प्रभुंजेत् । स कः कर्त्ता “आदा” आत्मा “गिच्छयणपदो चेदणभावं आदस्स” निश्चयनयतत्त्वचनभावं भुंजेत् “सु” स्पृष्टं कस्य सम्यन्धिनमात्मनः स्वयंति । तथा—आत्मा हि

निजशुद्धात्मसंविचितसमुद्भूतपारमार्थिकमुग्धसुधारसमोजनमलभमान अन्वयित्वात्सद्भूत-
हारेणैष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं मुद्गे सयैवानुपचरित्वात्सद्भूतव्यवहारोत्पत्ते-
सुखदुःखजनकं द्रव्यकर्मरूपं सातासानोदयं मुद्गे । स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षनिश्चयं
सुखदुःखं च मुद्गे । शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोपकरण-
नन्दैकलक्षणं सुखामृतं मुद्गे इति । अत्र यस्यैव स्वामात्रिकमुखाभूतस्य भोजनामात्रादि-
यसुखं भुञ्जानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रायः ।
एवं कर्त्ता कर्मफलं न भुङ्के इति बौद्धमतनिषेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रं गतम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—“व्यवहारा सुह दुखत्वं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि” व्यवहार नर-
अपेक्षासे सुख तथा दुःखरूप पुद्गल कर्मफलोंको भोगता है । वह कर्मफलोंका भोक्ता कर्त्ता
कि “आदा” अर्थात् आत्मा । “णिच्छयणपदो चेदणभावं सु आदस्स” और निश्चय न-
तो स्फुट रीतिसे चेतन भावका ही भोक्ता आत्मा है और वह चेतन भाव किस संबन्धी
कि अपना ही संबंधी है, वह ऐसे कि निज शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो पारमार्थिक
सुखरूप अमृत रस है उसके भोजनको नहीं प्राप्त होता हुआ जो आत्मा है वह उपचित
असद्भूत व्यवहार नयसे इष्ट तथा अनिष्ट पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुख तर
दुःखको भोगता है, ऐसेही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे अन्तरंगमें सुख तथा दुःखके
उत्पन्न करनेवाला जो द्रव्यकर्मरूप सात (सुखरूप) असात (दुःखरूप) उदय है उसके
भोगता है, और वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयसे हर्ष तथा विषादरूप सुख दुःखके
भोगता है, और शुद्ध निश्चय नयसे तो परमात्मस्वभावका जो सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और
आचरण, उससे उत्पन्न अविनाशी आनंदरूप एक लक्षणका धारक जो सुखामृत है
उसको भोगता है । यहांपर जिस स्वभावसे उत्पन्न हुए सुखामृतके भोजनके अभावसे ही आत्म
इन्द्रियोंके सुखोंको भोगताहुआ संसारमें परिभ्रमण करता है; वही जो स्वभावसे उत्पन्न
इन्द्रियोंके अगोचर सुख है सो सब प्रकारसे ग्रहण करने योग्य है ऐसा अभिप्राय है ।
इस प्रकार “कर्त्ता कर्मके फलको नहीं भोगता है” यह जो बौद्धका मत है उसका खंडन
करनेके लिये जीव कर्मफलका भोक्ता है इस व्याख्यानरूप जो सूत्र (गाथा) है सो
संगत हुआ ॥ ९ ॥

अथ निश्चयेन लोकाग्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेद्यति ।

अथ यद्यपि आत्मा निश्चय नयसे लोकाग्रमाण अमंश्यात् प्रदेशोंका धारक है तथापि
व्यवहारमें देहप्रमाण है यह कथन करते हैं ।

अशुग्गुदेहपमाणो उयसंहारप्पसत्पदो चेदा ।

असमुद्दो पयहारा णिच्छयणपदो असंखदेसो या ॥ १० ॥

मापाभावात्—व्यवहार नयसे समुद्भूत अवस्थाके बिना यह जीव संकोच तथा

वेद्यारसे छोटे और बड़े शरीरके प्रमाण रहता है और निश्चय नयसे जीव असंख्यात देहोंका धारक है ॥ १० ॥

प्याख्या । “अणुगुरुदेहप्रमाणो” निम्नयेन स्वदेहाग्निभ्रस्य केवलज्ञानाद्यन्तगुणराशेर-
भ्रस्य निजशुद्धात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहनमत्वमूलभूताहारभयमैशुनपरिग्रहसं-
ताप्रभृतिसमन्तरागादिविभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपाजितं शरीरनामकर्म तदुद्भवे सति
प्रणुगुरुदेहप्रमाणो भवति । स कः कर्ता “वेदा” चेतयिता जीवः । कस्मात् “उवसंहारव्यस-
पदो” उपसंहारप्रसर्पतः शरीरनामकर्मजनितवित्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः । कोऽत्र
दृष्टान्तः, यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादि-
स्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति । पुनरपि कस्मात् “असमुद्भदो” असमुद्भवात् वेदनाकपायवि-
क्रियामरणान्तिकसैजसाहारककेवलिसंशसत्तसमुद्भातवर्जनात् । तथा शोकं सत्तसमुद्भातल-
क्षणम् — “वेयणकसायविडव्यमारणंति उसमुद्भादो । तेजाहारो छट्टो सत्तमउ केवलीणं तु । १।”
तथाया “मूलशरीरमल्लंघिय उत्तरदेहस्स जीवपिडस्स । गिग्गमणं देहादो ह्वदि समुद्भादयं
णाम ॥ १ ॥” तीप्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां षड्दिर्निर्गमनमिति वेदना-
समुद्भातः । १। तीप्रकपायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य पातार्थमात्मप्रदेशानां षड्दिर्गमनमिति
कपायसमुद्भातः । २। मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां षड्दिर्गमनमिति विक्रि-
यासमुद्भातः । ३। मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्ब्रह्ममायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितु-
मात्मप्रदेशानां षड्दिर्गमनमिति मरणान्तिकसमुद्भातः । ४। स्वस्य मनोनिष्ठजनकं किञ्चित्कार-
णान्तरमवलोक्य समुत्पन्नशेषस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुष्पप्रभो
दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यद्ब्रह्मसङ्ख्येयभागमूलवित्तारो नवयोजनाप्रवित्तारः काह-
लाकृतिपुरुषो धामस्कन्धाग्निर्गत्य धामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य
तेनैव संयमिना सह स च भस्म प्रजति द्वीपायनवन्, असावशुभश्लेजःसमुद्भातः, लोकं
व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नरूपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य
शुभाकृतिः प्रागुच्छदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं रक्तोदवित्वा पुनरपि
स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपश्लेजःसमुद्भातः । समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमद्विसंप-
न्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकद्वसप्रमाणः पुरुषो मल्लमध्याग्निर्गत्य यत्र
कुत्रचिदन्तर्मुहूर्त्समध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाध्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं
समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारसमुद्भातः । सप्तमः केवलितानां दण्ड-
कपाटप्रतरपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्भातः । नयविभागः कथ्यते । “ववहारा” अनुपचरितास-
द्भूतव्यवहारनयान् “गिच्छयणयदो असंसदेसो वा” निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्ये-
यप्रदेशप्रमाणः वा शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहार-
नयेन लोकालोकव्यापकः न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवन् । तथैव पथे-
न्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकाले स्वसंवेदनलक्षणशेषसद्भावेऽपि षड्दिर्दिपयेन्द्रिय-
योधाभावाज्जडः न च सर्वथा सांख्यमतवन् । तथा रागादिविभावपरिणामापेक्षया शून्योऽपि
भवति न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया शौद्धमतवन् । किञ्च अणुमात्रशरीरशब्देनात्र उत्तरोपपत्ता-
द्भूतासंख्येयभागप्रमितं लब्धपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरं ग्राह्यं न च पुद्गलपरमाणुः । गुरुशरीर-

कारणको देखकर उत्पन्न हुआ है क्रोध जिसके ऐसा जो संयमका निधान महामुनि उसके वाम (बायें) कंधेसे सिंदूरके डेरकीसी कान्तिवाला, भारह योजन लम्बा, सूच्यंगुलके संख्येय भाग प्रमाण मूल विस्तार और नव योजनके अम्र विस्तारको धारण करनेवाला काहल () के आकारका धारक पुरुष निकल करके वाम प्रदक्षिणा देकर मुनिके हृदयमें स्थित जो विरुद्ध पदार्थ है उसको भस्म करके और उसी मुनिके साथ आप भी भस्म होजाय; जैसे द्वीपायन मुनिके शरीरसे पुतला निकलके द्वारिकाको भस्म कर उसीने द्वीपायन मुनिको भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म होगया उसीकी तरह जो हो सो अशुभ तेजस समुद्रात है । तथा जगत्को रोग अथवा दुर्भिक्ष आदिसे पीडित देखकर उत्पन्न हुई है कृपा जिसके ऐसा जो परमसंयमनिधान महाऋषि उसके मूल शरीरको नहीं त्यागकर पूर्वोक्त देहके प्रमाणको धारण करनेवाला अच्छी सौम्य आकृतिका धारक पुरुष दक्षिण स्कंधसे निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणाकर रोग दुर्भिक्ष आदिको दूर कर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जाय यह शुभ रूप तेजस समुद्रात है । ५ । उत्पन्न हुई है पद और पदार्थमें भ्रान्ति (संशय) जिसके ऐसा जो परम ऋद्धिका धारक महर्षि उसके मस्तकमेंसे मूल शरीरको न छोड़कर निर्मल स्फटिक (विहोर) की आकृति (रंग) को धारण करनेवाला एक हाथका पुरुष निकलकर अन्तर्मुहूर्त्तके बीचमें जहां कहीं भी केवलीको देखता है और उन केवलीके दर्शनसे अपना आश्रय जो मुनि उसके पद और पदार्थका निश्चय उत्पन्न कर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जाय सो यह आहार समुद्रात है । ६ । केवलियोंके जो दंड कपाट प्रतर पूर्ण होता है सो सातवां केवलि समुद्रात है । ७ । अब नयोका विभाग कहते हैं । “बवहारा” यह जो गुरुलघुदेहप्रमाणता जीवकी दर्शाई गई है यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे है तथा “णिच्छयणयदो असंस्वदेसो वा” निश्चयनयसे लोकाकाश प्रमाण जो असंख्येय प्रदेश हैं उन प्रमाण अर्थात् लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका धारक यह आत्मा है और “असंस्वदेसो वा” यहां जो गाथाके अंतमें वा शब्द दिया गया है उस वा शब्दसे ग्रंथकर्त्ताने यह सूचित किया है कि स्वसंबिधि (आत्मज्ञान) से उत्पन्न हुआ जो केवलज्ञान उसकी उत्पत्तिके प्रस्तावमें अर्थात् केवल ज्ञानावस्थामें ज्ञानकी अपेक्षासे व्यवहारनयद्वारा आत्माको लोक और अलोकमें व्यापक माना है और जैसे नैयायिक, भीमांसक तथा सांख्य मतवाले आत्माको प्रदेशोंकी अपेक्षासे व्यापक मानते हैं वैसा नहीं । इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों और मनके विषयोंके जो विकल्प उनसे रहित जो समाधिकाल (ध्यानका समय) है उसमें आत्मज्ञानरूप ज्ञानके विद्यमान होनेपर भी बाह्य विषयरूप जो इन्द्रियज्ञान है उसके अभावसे आत्मा जड माना गया है और मांस्वमतकी तरह आत्मा सर्वथा जड नहीं है । ऐसे ही आत्मा राग, द्वेष आदि जो विभाव परिणाम हैं उनकी अपेक्षासे अर्थात् उनके न होनेसे शून्य भी होता है, परंतु

शब्दात्पर्ययः—एव 'होति' इत्यादि पदोंकी व्याख्या की जाती है । "होति" अतीन्द्रिय तथा कृत्तरिति जो निजपरमात्माका स्वभाव है उसके अनुभवसे उत्पन्न जो सुक्ष्मरूपी अणुरूप उसके स्वभावकी नहीं प्राप्त करते हुए जीव गुच्छ (अल्प) जो इंद्रियोंसे उत्पन्न सुक्ष्म है उसके अभिलक्षा करते हैं और अज्ञानतासे उस इंद्रियजनित सुक्ष्ममें आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवोंका धारण करते हैं. उस धारणसे उपासन किया जो प्रस तथा स्थावर नामकमें उसके उदयसे होते हैं. "पुटविजलनेयवाऊवणप्फदीविबिहयावे इंदी" पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा वनस्पति जीव, कितने—अनेक प्रकारके अर्थात् शास्त्रमें बंटे हुए जो अपने २ भेद हैं उनमें पात प्रकारके, स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर, एकेन्द्रिय जानि नामकर्मके उदयसे स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं. केवल इस प्रकारके स्थावरही नहीं होते हैं: किन्तु "दिगतिगचहुपंचवसा तसजीवा" दो, तीन, चार, तथा पाच इन्द्रियोंके धारक प्रथम नामकर्मके उदयसे प्रस जीव होते हैं. वे कैसे हैं कि "संस्पर्शी" शंस आदिक अर्थात् स्पर्शन और रसन इन दो इन्द्रियों सहित शंस, कृमि आदि दो इन्द्रियोंके धारक जीव हैं; स्पर्शन, रसन, तथा प्राण (नामिका) इन तीन इन्द्रियों सहित कुंभु, पिपीलिका (कीड़ी), यूका (जू), मत्स्य (खटमल) आदि त्रीन्द्रिय हैं. स्पर्शन, रसन, प्राण और चक्षु (नेत्र) इन चार इन्द्रियों सहित दंश (डांसर), मशक (माछ), मक्षिका (मक्खी) और भौता आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं; स्पर्शन, रसन, प्राण, चक्षु: और श्रोत्र (कर्ण) इन पाच इन्द्रियों सहित मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय हैं । यहाँपर तात्पर्य यह है कि निर्मल ज्ञान तथा दर्शन समावहक धारक जो निज परमात्मस्वरूप उसकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुक्ष्म है उसको नहीं प्राप्त होते हुए जीव इन्द्रियोंके सुक्ष्ममें आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवोंका बंध करते हैं उससे प्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं इसलिये प्रस और स्थावरोंमें जो उत्पत्ति होती है उसके नाशके लिये उसी पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्मामें भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

तदंश प्रसस्थावरत्वं चतुर्दशजीवसमाप्तरूपेण व्यक्तीकरोति ।

अथ उमी प्रस तथा स्थावरपनेको चतुर्दश १४ जीवसमाप्तोंद्वारा व्यक्त (प्रकट) करते हैं ।

समणा अमणा षोया पंचिदिया गिम्मणा परे सन्धे ।

थादरसुहमे इंदी सन्धे पञ्चत्त इदराय ॥ १२ ॥

गाथाभावात्पर्ययः—पंचेन्द्रिय जीव संजी और असंजी ऐसे दो प्रकारके जानने चाहिये और वे इन्द्रिय, तं इन्द्रिय. चौ इन्द्रिय ये सब मनरहित (असंजी) हैं. एकेन्द्रिय यादर और सूक्ष्म दो प्रकारके हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं. ऐसे १४ जीव-समाम हैं ॥ १३ ॥

व्याख्यानार्थः—अब 'होति' इत्यादि पदोंकी व्याख्या की जाती है । "होति" अतीन्द्रिय तथा मूर्तिरहित जो निजपरमात्माका स्वभाव है उसके अनुभवसे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृतरस उसके स्वभावको नहीं प्राप्त करते हुए जीव तुच्छ (अल्प) जो इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख है उसकी अभिलाषा करते हैं और अज्ञानतासे उस इंद्रियजनित सुखमें आमक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवोंका घात करते हैं. उस घातसे उपार्जन किया जो घस तथा स्थावर नामकर्म उसके उदयसे होते हैं. "पुढविजलतेयवाऊवणप्फदीविविहथावरे इंदी" पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा वनस्पति जीव, कितने-अनेक प्रकारके अर्थात् शास्त्रमें कहे हुए जो अपने २ भेद हैं उनसे बहुत प्रकारके, स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर, एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं. केवल इस प्रकारके स्थावरही नहीं होते हैं; किन्तु "विगतिगचहुपंचक्खा तसजीवा" दो, तीन, चार, तथा पांच इन्द्रियोंके धारक घस नामकर्मके उदयसे घस जीव होते हैं. वे कैसे हैं कि "संस्तादी" शंस आदिक अर्थात् स्पर्शन और रसन इन दो इन्द्रियों सहित शंस, कृमि आदि दो इन्द्रियोंके धारक जीव हैं; स्पर्शन, रसन, तथा प्राण (नासिका) इन तीन इंद्रियों सहित कुंभु, पिपीलिका (कीड़ी), यूका (जू), मत्कुण (खटमल) आदि त्रीन्द्रिय है. स्पर्शन, रसन, प्राण और चक्षु (नेत्र) इन चार इंद्रियों सहित दंश (डांसर), मशक (माछर), मशिका (मक्खी) और भौरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं; स्पर्शन, रसन, प्राण, चक्षुः और श्रोत्र (कर्ण) इन पांच इन्द्रियों सहित मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय है । यहांपर तात्पर्य यह है कि निर्मल ज्ञान तथा दर्शन स्वभावका धारक जो निज परमात्मस्वरूप उसकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको नहीं प्राप्त होते हुए जीव इंद्रियोंके सुखमें आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवोंका वध करते हैं उससे घस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं इसलिये घस और स्थावरोंमें जो उत्पत्ति होती है उसके नाशके लिये उसी पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्मामें भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

तदेव प्रसस्त्वावरत्वं चतुर्दशजीवसमामरूपेण व्यक्तीकरोति ।

अब उसी घस तथा स्थावरपनेको चतुर्दश १४ जीवसमासोंद्वारा व्यक्त (प्रकट) करते हैं ।

समणा अमणा जेषा पंचिंदिया णिम्मणा परे सच्च्ये ।

पादरसुहमे इंदी सच्च्ये पञ्चत्त इदराय ॥ १२ ॥

गाथाभाष्यार्थः—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकारके जानने चाहिये और वे इंद्रिय, ते इंद्रिय, श्री इंद्रिय ये सब मनरहित (असंज्ञी) हैं. एकेन्द्रिय पादर और सुहम दो प्रकारके हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं. ऐसे १४ जीव-समास हैं ॥ १३ ॥

ध्याया—“समणा अमणा” ममत्तशुभाशुभविकल्पानीनरामा मद्रव्यविलक्षणं ज्ञानविकल्पजातरूपं मनो भण्यते तेन मह्ये वृत्तान्ते ते समनस्कृताः, तद्विपरीता अमनस्कृता अवन्दित-
 “णेया” ज्ञेया ज्ञानव्याः । “पंचिन्द्रिया” ते मंजिनस्यैवामंजिनस्य पंचेन्द्रियाः । एवं मंत्र-
 संक्षिप श्चेन्द्रियाणिर्येष्व एव, नागकमनुष्यदेवाः मंजिप श्चेन्द्रिया एव । “गिम्मणा परे सर्वे”
 निर्मनस्कृताः पंचेन्द्रियात्सकाशादपरे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः “वादरमुहमे इंदी” वादर-
 क्ष्मा एकेन्द्रियात्सोऽपि यदष्टपत्रपद्याकारं द्रव्यमनन्दापारेण मिश्रालापोपदेशादिमाहकं भाव
 मनश्चेति तदुभयाभावाद्मंजिन एव । “सञ्जे पञ्जत्त इदराय” एवमुक्तप्रकारेण मंश्यमंजिनस्येन
 पंचेन्द्रियद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रयं वादरमुहमरूपेणैकेन्द्रियद्वयं चेति
 समभेदाः । “आहारसरीरिन्द्रिय पञ्जत्ती आणपाणभाममणाः । चत्तारिपंचलुप्पियईन्द्रियवियत्त-
 सण्णिसण्णीणं । १ ।” इति गायारुपितक्रमेण ते सर्वे प्रत्येकं स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिमं-
 वात्मन पर्याप्ताः मनापर्याप्ताश्च भवन्ति । एवं चतुर्दशज्ञेयसामा ज्ञानव्याप्तयो च “इन्द्रिय-
 काया ऊणिय पुण्णापुण्णे मुपुण्णगे आणा । वेइन्द्रियादि पुण्णे सुवचिमणोमणि पुण्णोय । १ ।
 दस सण्णीणां पाणा सेसे गूणति मण्णवे ऊणा । पञ्जत्ते सिदरेमुपमत्तडुगेमेमगेगूणा । २ ।”
 इति गायारुपितक्रमेण यथासंभवमिन्द्रियादिदशप्राणाश्च विज्ञेयाः । अत्रैतेभ्यो भिन्नं निज-
 शुद्धात्मवत्स्वमुपादेयमिति भावार्थः ॥ १० ॥

ध्यायार्थः—“समणा अमणा” संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप जो विकल्प हैं उन
 विकल्पोंसे रहित जो परमात्मरूप द्रव्य है उससे विलक्षण ज्ञाना प्रकारके विकल्पजालोरूप
 जो है उसको मन कहते हैं. उस मनसे सहित जो हैं उनको समनस्क (सैनी) कहते हैं
 और उनसे विरुद्ध अर्थात् पूर्वोक्त मनसे शून्य अमनस्क अर्थात् असंज्ञी (असैनी) “णेया”
 जानने चाहिये । “पंचिन्द्रिया” पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा अमंज्ञी दोनों होते हैं परन्तु संज्ञी
 तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यचही होते हैं और नागक, मनुष्य तथा देव ये संज्ञी
 पंचेन्द्रिय ही होते हैं । “गिम्मणा परे सर्वे” पंचेन्द्रियसे भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय
 और चतुरिन्द्रिय जीव मनरहित (असैनी) हैं । “वादरमुहमे इंदी” वादर (स्थूल)
 और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय हैं वे भी आठ पांसुडीके कमलके आकार जो द्रव्यमन और उस
 द्रव्यमनके आधारसे शिक्षा, वचन और उपदेश आदिका ब्राह्मक मावमन इन दोनोंके
 अभावसे असंज्ञी (मनरहित) ही हैं । “सञ्जे पञ्जत्तदराय” इस पूर्वोक्त प्रकारसे संज्ञी
 असंज्ञीरूप दोनों पंचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप जो विकल्पव
 और वादर, तथा सूक्ष्म भेदसे दोनों एकेन्द्रिय ऐसे ये सात भेद हुए । तथा “आहार,
 शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये पत् (६) पर्याप्ती हैं, इनमेंसे जो एकेन्द्रिय
 जीव हैं उनको तो केवल आहार, शरीर, एक इंद्रिय, तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियें
 होती हैं. मंज्ञी पंचेन्द्रियोंके चार ये पूर्वोक्त, और भाषा तथा मन ये छहों पर्याप्तियें होती
 हैं और शेष जीवोंके मनरहित पाच पर्याप्तियें होती हैं.” इस गायामें कहें हुए क्रमसे वे सब
 हरएक अपनी २ पर्याप्तियोंके होनेसे सात तो पर्याप्त हैं और सात अपर्याप्त हैं. ऐसे बौद्ध

जीवसमास जानने चाहिये।" "इनमें एकेन्द्रिय जीवके आयु, काय, एकेन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं, द्वीन्द्रियोंके पूर्वोक्त चार, रसना इन्द्रिय और भाषा ये ६ प्राण हैं, त्रीन्द्रियोंके पूर्व ६ और घ्राण इन्द्रिय अधिक ऐसे सात प्राण हैं, चतुरिन्द्रियोंके पहले सात और चक्षु इन्द्रिय ऐसे ८ प्राण हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे ९ प्राण है और संज्ञी पंचेन्द्रियोंके मनकी अधिकतासे १० प्राण हैं।" इन दो गायार्जोद्वारा कहे हुए क्रमसे यथासंभव इन्द्रियादि दश प्राण समझने चाहिये । यदापर कथनका अभिप्राय यह है कि इन पूर्वोक्त पर्याप्तियों तथा प्राणोंसे भिन्न जो अपना शुद्ध आत्मतत्त्व है उसको ग्रहण करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावप्राहकण शुद्धद्रव्याधिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पश्चादशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणास्थानचतुर्दशगुणस्थानमहिता भवन्तीति प्रतिपादयति ।

अब शुद्ध पारिणामिक परम भावका प्राहक जो शुद्ध द्रव्याधिक नय है उससे सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक है तो भी अशुद्धनयसे चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थानोंसहित होते हैं ऐसा कथन करते हैं ।

**मग्गणगुणटणेहि य चउदसहि ह्वंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा ह् सुद्धणया ॥ १३ ॥**

गाथाभाषार्थः—संसारी जीव अशुद्ध नयसे चौदह मार्गणास्थानोंमें तथा चौदह गुणस्थानोंसे चौदह २ प्रकारके होते हैं और शुद्धनयसे तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं ।

ध्याएव्या । "मग्गणगुणटणेहि य ह्वंति तह विण्णेया" यथा पूर्वगूत्रोदितचतुर्दशजीवम-
साक्षैर्भवन्ति मार्गणगुणस्थानैश्च तथा भवन्ति संभवन्तीति विज्ञेया क्षणव्या । कतिमत्तोपेतैः
"चउदसहि" प्रत्येकं चतुर्दशभिः । कस्मात् "असुद्धणया" अशुद्धनयान् सत्काशान् । इत्येभूताः
के भवन्ति । "संसारी" सांसारिजीवाः । "सव्वे सुद्धा ह् सुद्धणया" स एव सर्वे संसारिणः
शुद्धाः सहजशुद्धस्वभावकैकस्वभावाः । कस्मात् शुद्धनयान् शुद्धनिश्चयनयार्थित् । अघाणमप्र-
सिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति । "मिण्णटासात्तणमिस्सो अविस्समोय देसावि-
सोय । विस्सापमच्छदयो अपुच्छ अणियट्ठि सुहमोय । १ । उवसंतरीणमोहो सज्जोनिक्केत्तिज्जो
अजोगीया । चउदसगुणटणाणि य कमेण सिद्धाय णायव्वा । २ ।" इदानीं तेषामेव गुण-
स्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते । तथाहि-सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपावर्णदृष्टप्रत्य-
क्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिपद्द्रव्यपञ्चालिहायसप्रतत्स्वनव्यवसायैषु मूढप्रयादिपञ्च-
विंशतिमलरहितं बीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य भद्धानं नालि स मिध्याएट्ठिभं वति ।
पापाणोरसासहज्ञानन्वाप्तुषन्धिप्रोपमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथममोपसामिकसम्यक्त्वानु-
चितो मिध्याएव नायापि गच्छतीत्यन्तरात्तत्त्वतो सासादन । निजशुद्धात्मादित्स्व बीतराग-
सर्वज्ञप्रणीत परप्रणीत च मन्यते य स दानमोहनीयधर्मिधर्ममोदयेन दरिगुहनिधनः

पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते । तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मान् ध्यानपर्यायस्य त्रि-
 श्वरत्वान्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वाद्भिनश्वरः, इति भावार्थः । औपशमिकश्रायोपशानि
 कश्रायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रसंश्लेषत्रयभेदेन
 सह पञ्चिधा ज्ञातव्या । १२।संज्ञित्वासंज्ञित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना संश्रयसंज्ञिभेदेन द्विधा
 संज्ञिमार्गणा । १३।आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा । १४।इति चतुर्दशमार्गणा
 स्वरूपं ज्ञातव्यम् । एवं "पुटविजलतेय वाऊ" इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादत्रयेन च
 "गुणजीवापञ्जती पाणासण्णायमग्गणा उया । उवओगो विय कमसो वीसंतुपरुवणा मणिवा
 । १ ।" इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रथन्धामिधानसिद्धान्तर-
 धीजपदं सूचितम् । "सद्ये सुद्धा हु सुद्धणया" इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्-
 पादेन पश्चात्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्रभृतत्रयस्यापि धीजपदं सूचितमिति ।
 अत्र गुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं श्रायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं
 च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्त्वज्ञानज्ञानानुचरणलक्षणं कारणसमयसारस्वरूपं
 तत्सम्यैवोपादेयमूतस्व विवक्षितैकदेनशुद्धजनयेन साधकत्वात्वारम्पर्येणोपादेयं, शेषं तु हेतु-
 मिति । यथाध्यात्मग्रन्थस्य धीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव ।
 अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथनमुत्पत्तेन सप्रमस्थले गाथार्थ
 गतम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—“मग्गणगुणठाणेहि य इवंति तह विण्णेया” जिस प्रकार “सन्ना
 अमणा” इत्यादि पूर्व गाथामें कहे हुए चतुर्दश १४ जीवममासोसे जीवोंके चतुर्दश १४
 भेद होते हैं उसी प्रकार मार्गणा और गुणस्थानोंसे भी होने हैं, ऐसा जानना चाहिये ।
 किन्तनी संख्याके पारक मार्गणा और गुणस्थानोंसे होते हैं ! “चउदसहि” प्रत्येक चतुर्दश
 १४ संख्याके धारकोंमें । किम अपेशामे ! “अमुद्धणया” अशुद्ध नयकी अपे-
 शामें । चतुर्दश मार्गणा और चतुर्दश गुणस्थानोंमें अशुद्ध नयकी अपेशा धार
 कोंके प्रकारके होनेवाले कौन हैं ! “मंसारी” मसारी जीव हैं । “सद्ये सुद्धा
 हु सुद्धणया” बेही सब मंसारी जीव शुद्ध निधय नयकी अपेशामें शुद्ध भवान्
 स्वभावमें उत्पन्न जो शुद्ध ज्ञायक (जाननेवाला) रूप एक स्वभाव उमके पारक हैं । अ
 शास्त्रोंमें प्रसिद्ध जो दो गाथा हैं, उनके द्वारा गुणस्थानोंके नाम कहते हैं । गाथार्थ—“मि-
 थ्यन्व १ ममादन २ निध ३ अविग्नमम्यक्त्व ४ देशविरत ५ प्रमत्तविरत ६ अपमत्त-
 विरत ७ अपूर्वच्छण ८ अनिशुचितच्छण ९ मममांगगय १० । १ । उपनान्तमोह ११
 अन्तमोह १२ मयोगि केवदि त्रिन १ थीं ४ ययोगि केवदि त्रिन १४ इम प्रकार कथा-
 नुस्य संदह गुणस्थान ज्ञानने चाहिये । २ ।” अत इन गुणस्थानोंमेंमें प्रत्येकका संश्र
 टक्य कहते हैं—१में स्ववर्षिक शुद्ध केवद ज्ञान और केवद दर्शनरूप जो जगद
 इन्द्रक प्रत्यक्ष है २में प्रथम प्रतिभगमय जो निजपरमात्मा (अपना शुद्ध जीव)

यह है आदिमें जिसके ऐसे जो पद् द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ उनमें तीन मूढता आदि पचीस २५ मल (दोष) रहितत्वपूर्वक वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभागसे जिस जीवके अज्ञान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है । १ । पाषाणरेखा (पत्थरमें की हुई लकीर)के समान जो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं; उनमेंसे किसी एकके उदयसे प्रथम जो औपशमिक सम्यक्त्व है उससे जीव गिरके जबतक मिथ्यात्वको प्राप्त न हो तबतक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंके बीचमें विद्यमान जो जीव है वह सासादन है । २ । जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वको वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ भी मानता है और अन्य मतके आचार्योंद्वारा कहा हुआ भी मानता है वह दर्शनमोहनीय कर्मका भेद जो मिश्रकर्म है उसके उदयसे दही और गुड़ मिले हुए पदार्थकी भांति तीसरा जो मिश्र गुणस्थान है उसमें रहनेवाला जीव है । ३ । अब कोई शंका करे कि चाहे जिससे हो मुझे तो एक देवसे प्रयोजन है अथवा सब देवोंकी बन्दना करनी योग्य है, निन्दा किसीभी देवकी न करनी चाहिये" इस प्रकार वैनयिक मिथ्यादृष्टि और संशयमिथ्यादृष्टि मानता है तब उसके साथ मिश्रगुणस्थानवर्षी सम्यग् मिथ्यादृष्टिका क्या भेद है अर्थात् वैनयिक वा संशयमिथ्यादृष्टिमें और सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें क्या भेद है जिससे उसको जुदा कहा ! इस शंकाका खण्डन यह है कि—वैनयिक मिथ्यादृष्टि अथवा संशयमिथ्यादृष्टि तो संपूर्ण देवोंमें तथा सब शाखोंमें किसी एककी भक्तिके परिणामसे मुझे पुण्य होगा अर्थात् इन सबकी सेवा करनेसे किसी एककी तो सेवा सफल होगी ऐसा मानकर संशयरूपसे भक्ति करता है; क्योंकि, उसको किसी देवमें निश्चय नहीं है कि यह सत्य है और मिश्रगुणस्थानवर्षी जीवके दोनोंमें निश्चय है । कम, यही विशेष है । जो स्वभावसे उत्पन्न जो अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुण है उनका आधारभूत निज परमात्मद्रव्य तो उपादेय है और इंद्रियोंके सुख आदि परद्रव्य हेय (त्याज्य) है ऐसे अर्हत सर्वश देवसे प्रणीत निश्चय तथा व्यवहारनयको साध्य साधक भावसे मानता है, परन्तु भूमिकी रेखाके तुल्य क्रोध आदि द्वितीय कषायभेदके अर्थात् प्रत्याख्यानकषायके उदयसे मारनेके लिये कोतवालसे पकड़े हुए चोरकी भांति आत्मनिन्दादि सहित होकर इंद्रियोंके सुखोंका अनुभव करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्षी जीवका स्वरूप है । ४ । जो पूर्वोक्त प्रकारसे सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादिके समान प्रत्याख्यान क्रोध आदि कषायोंके उदयका अभाव होनेपर अंतरंगमें निश्चयनयसे एकदेशराग आदिसे रहित स्वाभाविक सुखके अनुभवलक्षण तथा शास्त्रमें "हिंसा, झूठ, चोरी, अद्रव्य और परिग्रह इनके एकदेशत्याग लक्षण पांच अंगुष्ठोंमें और दर्शन, मत, सामाजिक, मोक्ष, सच्चित्तविरत, रात्रिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत तथा उद्दिष्टविरत । १ ।" इस प्रकार गाथामें कहे हुए जो भावकके एकादश स्थान हैं

उनमें वर्तता है यह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक जीव होता है । ५ । वही धूलिरेखा (माटीकी रेखा)के समान अपत्याग्र्यान क्रोध आदि गृणीय कषायोंके अभाव होनेपर निश्चयनयसे अंतरंगमें राग आदिकी उपाधिसे रहित जो निज शुद्ध आत्माका ज्ञान है उससे उत्पन्न सुखामृतके अनुभव लक्षणके धारक और वायु विषयोंमें संतुष्ट रूपसे हिंसा, असत्य, चोरी, अन्नक्ष और परिग्रहके त्यागरूप लक्षणके धारक पांच महत्त्वोंमें जब वर्तता है तब बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ मंदपष्ठ गुणस्थानमें रहनेवाला प्रमत्त संयत होता है । ६ । वही जलरेखाके तुल्य संज्ञक कषायका मंद उदय होनेपर प्रमादरहित जो शुद्ध आत्माका ज्ञान है उसमें मन्द (दो)को उत्पन्न करनेवाले व्यक्त (प्रकट) तथा अव्यक्त (अप्रकट) इन दोनों प्रकृतियोंमें वर्जित होकर सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त संयत होता है । ७ । वही अतीत संज्ञक कषायका मन्द उदय होनेपर अपूर्व परम आल्हाद रूप सुखके अनुभवलक्षण अपूर्व क्षणोंमें औपशमिक क्षपक नामका धारक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है । ८ । देखे हुए, सुने हुए, और अनुभव किये हुए भोगोंकी वाञ्छादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्परहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूपके पृक्काग्र ध्यानके परिणाममें जिन जीवोंके एक सन्तानपरस्पर पृथक्ता करनेमें नहीं आती वे वर्ण तथा अवयवरचनाका भेद होनेपर भी अन्तिम वृत्तिकरणौपशमिक क्षपक संज्ञाके धारक, द्वितीय कषाय आदि इक्कीस २१ भेदोंसे निश्चयार्थ इक्कीस प्रकारकी चारित्रमोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंके उपशमन और क्षणमें सन्तानवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं । ९ । सूक्ष्म परमात्मतत्त्वको भावनाके बलसे जो सूक्ष्म क्षिप्रगत लोभ कषायके उपशमक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं । १० । परम उपशममूर्ति निज आत्माके स्वभावके ज्ञानके बलसे संपूर्ण मोहको उपशान्त करनेवाले मन्द हवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं । ११ । उपशमश्रेणीसे विलक्षण (भिन्नरूप) जो क्षणश्रेणीका मार्ग उसके द्वारा कषायोंसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे क्षीण (नष्ट) हो गये हैं कषाय जिनके ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं । १२ । मोहके नष्ट होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त कालमें ही निज शुद्ध आत्माके ज्ञानरूप एकत्व वितक विषय संज्ञक द्वितीय शुद्ध ध्यानमें स्थित होके उसके अंतिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण तर अन्तराय इन तीनोंको एक कालमें ही सर्वथा निर्मूल करके मेघपटलसे निकले हुए सूर्यके सदृश संपूर्ण रूपसे निर्मल फेवलज्ञान चिरणोंसे लोक तथा अलोकके प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं । १३ । येही मन, वचन और कषायवर्णनके आत्मस्वभसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द (संचलन) का योग है उसने रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होने हैं । १४ । और इसके पश्चात् निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयका कारणमूर्ति

भ्रमद्वारा भ्रंशक जो परम यथाग्यात चारित्र्य है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानोंसे रहित, अनाशरण आदि अष्ट कर्मोंमें वर्जित तथा सम्पत्त्व आदि अष्ट गुणोंमें गर्भित निर्नाम (नामरहित), निर्गोत्र (गोत्ररहित) आदि अनन्त गुणसहित सिद्ध होते हैं । अपराधों शिष्य शंका करता है कि केवल ज्ञानकी उत्पत्तिमें जब मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णा हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, आपने जो सयोगी और अयोगी दो गुणस्थान कहे हैं इनमें रहनेका कोई समय ही नहीं है । अब इस संकाका परिहार कहते हैं कि केवलज्ञानोत्पत्तिमयमें यथाग्यात चारित्र्य तो हो गया परन्तु परम यथाख्यात नहीं है । यहाँपर दृष्टान्त यह है कि जैमे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है परन्तु उसको चोरके भ्रमरगणा दोष लगता है उसी प्रकार सयोग केवलियोंके चारित्र्यका नाश करनेवाला जो चारित्र्य-मोहका उदय है उसका अभाव है तथापि निष्क्रिय (कियारहित) शुद्ध आत्माके आचरणमें विलक्षण जो मन, वचन, कायरूप योगप्रयका व्यापार है वह चारित्र्यके दूषण उत्पन्न करता है और तीनों योगोंमें रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्तसमयको छोड़कर शेष चार अपातिया कर्मोंका तीव्र उदय चारित्र्यमें दूषण उत्पन्न करता है और अन्त्य समयमें उन अपातिया कर्मोंका मन्द उदय होनेपर चारित्र्यमें दोषका अभाव हो जाता है इस कारण उसी समय अयोगी जिन मोक्षको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंका ध्याग्यात समाप्त हुआ । अब चौदह मार्गणाओंका कथन किया जाता है । “गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कृपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्पत्त्व, संज्ञा तथा आहार । १ ।” इस गायामें कथित क्रममें गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये । वे इस प्रकार हैं, जैमे-निज आत्माकी प्राप्तिमें विलक्षण नारक, तिर्यग्, मनुष्य तथा देवगति भेदमें गतिमार्गणा चार प्रकारकी है । १ । अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंके अगोचर) जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उसके प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेदसे इन्द्रियमार्गणा पांच प्रकारकी है । २ । शरीररहित आत्मतत्त्वसे भिन्न स्वरूपकी धारक पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और अन्न कायभेदसे कायमार्गणा छे प्रकारकी होती है । ३ । व्यापाररहित शुद्ध आत्मतत्त्वमें विलक्षण मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग इन भेदोंसे योग मार्गणा तीन प्रकारकी है । अथवा विस्तारसे सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, सत्यामत्यमनोयोग और सत्यासत्यमनोयोगसे विलक्षण मनोयोग इन भेदोंसे चार प्रकारका मनोयोग है । ऐसेही सत्य, असत्य, सत्यासत्य तथा सत्यासत्यविलक्षण इन चार भेदोंसे वचनयोग भी चार प्रकारका है । एवम् औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कर्मण इन भेदोंसे काययोग सात प्रकारका है । सब मिलके योगमार्गणा पन्द्रह प्रकारकी हुई । ४ । वेदके उदयसे उत्पन्न होनेवाले रागादि दोषोंसे रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्वीवेद, पुंवेद और नपुं-

सकवेद इन् भेदोंसे वेदमार्गणा तीन प्रकारकी है । ५ । कषायोंमें गठित शुद्ध अन्ने स्वभावसे प्रतिकूल (विरुद्ध) क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन् भेदोंमें चार प्रधान कषायमार्गणा है । और विश्वाससे अनन्तानुबंधी, प्रत्याभ्यासान्, अप्रत्याभ्यासान्, तथा मंत्रान् भेदसे कषाय १६ और हास्यादि भेदमें नोःकषाय नव ९ सव मिलके पर्याप्त २५ प्रधान कषायमार्गणा है । ६ । मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पांच ज्ञान तत्त्व कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान गेमें ८ प्रकारकी ज्ञानमार्गणा है । ७ । सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय तथा यथाभ्यासान् भेदमें छे प्रकारका चारित्र्य और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्ष गेमें संयममार्गणा ७ प्रकारकी है । ८ । चक्षुः, अचक्षुः, अवधि और केवलदर्शीन् इन् भेदोंमें चार प्रकारकी है । ९ । कषायोंके उदयसे रंजित (रंगी हुई) जो काय आत्मा प्रवृत्ति है उससे भिन्न जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उससे विरोध करनेवाली कृष्ण, अशुद्ध, पीत, पद्म और शुद्ध इन् भेदोंसे ६ प्रकारकी लक्ष्यमार्गणा है । १० । दुर्भ्य, अमभ्य अमभ्य भेदसे भव्यमार्गणा दो प्रकारकी है । ११ । यहां शिष्य प्रश्न करता है विकल्पपर परिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनय है उसकी अपेक्षासे जीव गुणक मार्गणास्थानोंसे रहित हैं" यह पूर्व प्रकरणमें आपने कहा है और अब यहां भी रूपसे मार्गणामें भी आपने पारिणामिक भाव कहा सो यह पूर्वापरविरोध है दोसे शंकाका परिहार (संडन) कहते हैं कि पूर्वप्रसंगमें तो शुद्ध पारिणामिक भाव गुणस्थान और मार्गणास्थानका निषेध किया है और यहां अशुद्ध पारिणामिक भव्य तथा अमभ्य ये दोनों मार्गणामें भी कहे हैं सो नयभेदसे यह कथन घटत ही है । अब कदाचित् यह कहो कि "शुद्ध अशुद्ध भेदसे पारिणामिक भाव दो नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है" सो योग्य नहीं; क्योंकि, यद्यपि सामान्यत्वा उत्सर्गव्याख्यानसे पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अपवाद व्याख्यानसे अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है । इसी हेतुसे "जीवभव्याभव्यत्वानि च" अ. २ सू. ७) इस तत्त्वार्थसूत्रमें जीवत्व, भव्यत्व तथा अमभ्यत्व इन् भेदोंसे पारिणामिक भावको तीन प्रकारका कहा है । उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनाशी होनेसे शुद्ध द्रव्यके आश्रित है इस कारणसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनामा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है । और जो कर्मसे उत्पन्न दस प्रकारके प्राणों स्वरूप है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अमभ्यत्व भेदसे तीन प्रकारका है और ये तीनों विनागशील होनेसे पर्यायके आश्रित हैं इन्द्रिये पर्यायार्थिक संज्ञक अशुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है । "इसकी अशुद्धता किम प्रकारमें कहते हो" ऐसा कहो तो उत्तर यह है कि यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनयसे संमारी जीवमें हैं तथापि "सर्वे मुद्धा ह्यमुद्धणया" इ

वचनसे ये तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं है, और मुक्त जीवमें तो सर्वथा ही नहीं है; इसी कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावोंमेंसे जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यानके समयमें ध्येय (ध्यान करनेके योग्य) रूप होता है और ध्यानरूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनाशशील है और ध्येयरूप सदा अविनाशी रहता है। कारण कि वह द्रव्यरूप है यह भावार्थ है। औपगमिक, हायो-पगमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्वके भेदसे सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकारकी है। तथा मिथ्या-दृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीनों विपक्ष भेदोंसहित छे प्रकारकी भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिये। १२। संज्ञित्व तथा असंज्ञित्वसे विलक्षण जो परमान्माका स्वरूप है उससे भिन्न संज्ञी तथा असंज्ञी भेदसे दो प्रकारकी संज्ञिमार्गणा है। १३। और आहारक तथा नाहारक जीवके भेदसे आहारमार्गणा भी दो प्रकारकी समझनी चाहिये। १४। ऐसे दो प्रकारकी मार्गणाओंका स्वरूप जानना योग्य है। इस रीतिसे "पुढविज्ञन्दनेयवाऊ" इत्यादि दो वाक्योंसे और तीसरी गाथा जो "णिकम्मा अट्टगुणा" इत्यादि है उसके तीन पादोंमें प्रथम पाद जीवा पञ्चती पाणामण्णायमग्गणाउय। उवओगो विय कमसो वीमं तु परव्वणा भणिया" इत्यादि गाथामें कदा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबंध नामक जो तीन शब्द हैं उनके बीज पदकी सूचना मंत्रकारने की और "सच्ये सुद्धा तु सुद्धजया" इस गाथाके चार्थे पादद्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकाश करनेवाले जो पंचानिकाय, मय-सार तथा समयसार नामक तीन प्राभूत (पाहुट) हैं उनका भी बीजपद सूचित किया। गुणस्थान और मार्गणाओंके मध्यमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों गथायुक्त सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्माका स्वरूप ये तो माशात् उपादेय है और शुद्ध आत्माका सम्यक् अर्थान, ज्ञान और आचरण करनेरूप लक्षणका धारक कारण समयसार है वह उसी पूर्वोक्त उपादेय भूतका विषयित एकदेश शुद्धनयमे साधक है इस-लिये परंपरासे उपादेय है, इनके विना सब त्वाउय है; और जो अध्यात्ममयका बीज पदभूत शुद्ध आत्माका स्वरूप है वह तो उपादेय ही है। इस प्रकारसे जीवाधिकारके मध्यमें शुद्ध तथा अशुद्ध जीवके कथनकी मुख्यतारूप जो सप्तम स्थल है उसमें तीन गाथा समाप्त हुई ॥ १३ ॥

अधेशानी गाथापूर्वाद्धेनं सिद्धम्यरूपमुत्तराद्धेनं पुनरुत्सर्गतिस्वभावं च कथयति ।

अब इसके पश्चात् गाथाके पूर्वार्द्धमें तो सिद्धोंके स्वरूपका और उत्तरार्द्धमें उनका जो उर्द्धगमन स्वभाव है उसका कथन करते हैं।

णिकम्मा अट्टगुणा किंपूणा परमदेहदो सिद्धा ।

लोपग्गठिदा णिष्ठा उप्पादयण्हिं मंजुष्ठा ॥ १४ ॥

गाथाभावायः—जो जीव ज्ञानावरणादि आठ बन्धोंमें रहित है, सम्पन्न और अशुद्ध

शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्मा-
धीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति । अपरमप्युदाहरणं
दीयते—यथा हन्तचतुष्टयप्रमाणवत्त्वं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ
वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्धं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि
पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति । यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठ-
तीति ये केचन वदन्ति तन्निषेधार्थं पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्ब्रह्मच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्चेति हेतु-
चतुष्टयेन तथैवाविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुबदेरण्डवीजवदप्रतिस्त्रावच्चेति दृष्टान्त-
चतुष्टयेन च स्वभावोद्भूतगमनं ज्ञातव्यं तच्च लोकात्प्रपर्यन्तमेव न च परतो धर्मास्तिकायाभावा-
दिति । नित्या इति विशेषणं तु मुक्तात्मनां कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति
पुनरागमनं भवतीति सदाशिववादिनो वदन्ति तन्निषेधार्थं विशेष्यम् । उत्पादव्ययसंयुक्तत्वं
विशेषणं सर्वथैवापरिणामित्वनिषेधार्थमिति । किञ्च विशेषः निश्चलाविनश्वरगुणात्मस्वरूपा-
द्धिक्लं सिद्धानां नारकादिगतिषु भ्रमणं नास्ति कथमुत्पादव्ययत्वमिति । तत्र परिहारः । आग-
मकथितागुरुलघुपदस्थानपतितहानिप्रद्विद्धिरूपेण येऽर्धपर्यायास्तदपेक्षया अथवा येन येनोत्पा-
दव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं श्रेयपदायाः परिणमन्ति तत्परिच्छिन्न्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञा-
नमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्, अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया संसारपर्यायवि-
नाशः, सिद्धपर्यायोत्पादः, शुद्धजीवद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । एवं नयविभागन नवाधिकारै-
र्जीवद्रव्यं ज्ञातव्यम्, अथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति । तद्यथा—
स्वगुणात्मसंबित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुरात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियमुख्येनासक्तो बहिरात्मा, सङ्गलभ-
णोऽन्तरात्मा । अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपर-
द्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा । अथवा हेयोपादेय-
विचारकचित्तनिर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः शुद्धचित्तव्यलक्षण आत्मन्युत्कलक्षणेपु
चित्तदोषात्मसु त्रिषु धीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयाविभा-
गेन भद्रानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसृष्टोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्त-
रात्मनोर्लक्षणं ज्ञातव्यम् । परमात्मलक्षणं कथ्यते—सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन
समस्तं लोफालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते । परमब्रह्मसंज्ञनिजगुणा-
त्मभावनासमुत्पन्नसुरामृततृप्तस्य सत् सर्वेश्वरभातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि कस्य मद्यच-
यंश्रतं न राण्डितं स परमब्रह्म भण्यते । केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्राद्योर्गण-
त्परदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति । केवलज्ञानशब्दवाच्यं
गतं ज्ञानं यस्य स मुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः मुगतः । “शिवं परम-
कल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम् । प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः । १ ।” इति श्लोक-
कथितलक्षणः शिवः । कामत्रोपादिशेषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः । इत्यादिपरमा-
गमकथिताष्टोत्तरमद्वयसंख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः । एवमेतेषु त्रिविधास्तु मध्ये
मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण
भाविर्नगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च । अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्म-
परमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च भाविर्नगमनयेनेति । यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण

वर्तते तर्हि कथमभ्यस्त्यत्वमिति चेन् परमात्मज्ञानेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तित्वं सर्वत्र
 त्यभ्यस्त्यत्वं शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना । यदि पुनः शक्तिरूपेणात्यमन्त्रणे
 केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते । मध्यमभ्यस्त्यत्वं पुनरशुद्धनयेनैव
 पार्थः । एवं यथा मिथ्यादृष्टिमते षड्विंशत्यभिमानं न्यायमात्मप्रथं तथा ज्ञेयगुण-
 नेत्यपि । तद्यथा—षड्विंशत्यात्म्यायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण मात्रानैगमनयेन सत्त्वं
 रूपेण च विभेद्यम्, अन्तरात्म्यायामायां तु षड्विंशत्यात्म्यायामभूतपूर्वमन्यायेन घृतपटवत्, परमात्मता
 तु शक्तिरूपेण भावितैगमनयेन व्यक्तित्वरूपेण च । परमात्म्यायामायां पुनरन्तरात्म्यायामभूतपूर्वमन्यायेनैव
 भूतपूर्वमन्यायेनैव । अथ त्रिधात्मानं गुणव्यानेषु योजयति । मिथ्या मामादनमिथ्यगुणव्यानेषु
 चारतम्पन्युनाधिकभेदेन षड्विंशत्यात्म्यायामज्ञानव्यः, अविरतगुणव्याने तन्मोक्षानुभवेऽप्येव
 जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकपायगुणव्याने पुनरन्तः, अविरतभीणकपाययोर्मध्ये मन्त्र-
 सयोग्ययोगिगुणव्याने द्वये विवक्षितैरुद्देशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धम्भू-
 तपरमात्मेति । अत्र षड्विंशत्यात्मा हेयः, उपोद्देश्यमूतम्यानन्तमुग्यसाधकत्वाद्न्तरात्मोक्तो-
 परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः । एवं 'षड्विंशत्यभ्यान्विकायप्रतिपादकप्रक-
 षिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्यलैर्जीवित्वव्यक्यनरूपेण प्रयनोऽन्त-
 षिकारः समाप्तः ॥ १४ ॥

व्याख्यानार्थः—“सिद्धा”सिद्ध होते हैं इस रीतिमें यहां “भवन्ति” इस किंचित्
 अध्याहार करना चाहिये । किन् विशेषणोंसे विशिष्ट सिद्ध होते हैं “किंचित्मा अद्भुत
 किंचूणा चरमदेहदो” कर्मांसे रहित आठ गुणोंसे सहित तथा अन्तिम शरीरमें किंचि-
 ऊन (कुछ छोटे) ऐसे सिद्ध होते हैं । इस प्रकार सूत्रके पूर्वार्द्धमें सिद्धोंका स्वरूप कहा
 अब उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं । “लीयगतिद्रा णिचा उप्पादववेहि संजुचा
 और वे सिद्धलोकके अग्रभागमें स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इनसे संजु-
 हैं ॥ अब यहांसे विस्तारपूर्वक इस गाथाकी व्याख्या करते हैं—कर्मरूपी शत्रुओंके नि-
 ध्वंस करनेमें समर्थ अपने शुद्ध आत्माके बलसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति की
 उत्तरप्रकृतियोंके विनाशक होनेसे अष्टविध कर्मांसे रहित सिद्ध होते हैं । तथा “सम्पत्क-
 ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्यावाध ये आठ गुण सिद्धों
 होते हैं。” इस गाथोक्त क्रमसे उन अष्टकर्मरहित सिद्धोंके आठ गुण कहे जाते हैं । अब
 उन गुणोंको विस्तारसे दर्शाते हैं—केवलज्ञान आदि गुणोंका स्वरूप जो निवृत्त शुद्ध
 आत्मा है वही ब्रह्म है इस प्रकारकी स्वरूप निश्चयमभ्यस्त्यत्वं जो कि पहले तपश्चर्य
 करनेकी अवस्थामें उत्पादित किया था उसका फलभूत, समस्त जीव आदि तत्त्वोंके वि-
 ममें विपरीत अभिनिवेश (जो पदार्थ जिसरूप है उसके विरुद्ध आग्रह)से शून्य परिणाम-
 रूप परम क्षायिक सम्पत्त्व नामा प्रथम गुण सिद्धोंके कहा जाता है । पूर्व कालमें छद्म
 अवस्थामें भावनागोचर किये हुए विकाररहित स्थानुमवरूप ज्ञानका फलभूत एवही

समयमें लोक तथा अलोकके संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुए विशेषोंको जाननेवाला दूसरा केवल-ज्ञाननामा गुण है । संपूर्ण विकल्पोंसे शून्य निजशुद्ध आत्माकी मत्ताका अवलोकन (दर्शन) जो पहले दर्शन भावित किया था उसी दर्शनका फलभूत, एक कालमें ही लोक अलोकके संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुए सामान्यको ग्रहण करानेवाला केवलदर्शन नामा तृतीय गुण है । अतिघोर परीपह तथा उपसर्ग आदिके आनेके समयमें जो पहले अपने निरंजन परमात्माके ध्यानमें धैर्यका अवलम्बन किया उसीका फलभूत अनन्त पदार्थोंके ज्ञानमें स्वदेके अभावरूप लक्षणका धारक चतुर्थ अनन्तवीर्यनामक गुण है । सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवल-ज्ञानका विषय होनेसे मिट्टीके स्वरूपको सूक्ष्म कहते हैं । यह सूक्ष्मत्व पंचम गुण है । एक दीपके प्रकाशमें जैसे अनेक दीपोंके प्रकाशका समावेश हो जाता है उभी प्रकार एक मिट्टीके क्षेत्रमें संकर तथा व्यतिकर दोषके परिहार पूर्वक जो अनन्त मिट्टीको अवकाश देनेका सामर्थ्य है वही छटा अवगाहन गुण कहा जाता है । यदि मिट्टीस्वरूप सर्वथा गुरु (मारी) हो तो लोहविंडके समान उसका अधःपतन (नीचे गिरना) ही होना रहे और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो वायुसे ताडित आक वृक्षकी रईके समान उसका निरन्तर भ्रमण ही होता रहे, परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है इसलिये सानवा अगुरुलघुगुण कहा जाता है । स्वभावसे उत्पन्न और शुद्ध जो आत्मस्वरूप है उमगे उत्पन्न तथा राग आदि विभावोंसे रहित ऐसे सुखरूपी अमृतका जो एकदेश अनुभव पहले किया उसीका फलरूप अव्याबाध अनन्त सुख नामक अष्टम गुण सिद्धोंमें कहा जाता है । ये जो सम्पत्त्व आदि अष्ट गुण कहे गये हैं सो मध्यमरुचिके धारक शिष्योंके लिये हैं और विन्नारमें मध्यमरुचिके धारक शिष्यके प्रति तो विशेष भेदनयका अवलम्बन करनेमें गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितत्व, योगरहितत्व, वेदरहितता, कषायरहितत्व, नामरहितत्व, गोत्ररहितत्व तथा आयुररहितत्व आदि विशेष गुण और हमी प्रकार अस्मिन्त्व, षष्ठ्यत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण ऐसे अपने जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिये । और संशेषरुचि शिष्यके प्रति तो विवक्षित अभेद नयमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त धैर्य ये चार गुण अथवा अनन्त ज्ञान, दर्शन सुखरूप तीन गुण या केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दो गुण हैं और साक्षात् अभेदनयसे शुद्ध पैतन्य यह एक ही गुण सिद्धोंका है । पुनः वे सिद्ध कैसे हैं इसलिये कहते हैं कि वे सिद्ध परम (अन्तके) शरीरमें कुछ छोटे होते हैं और वह जो किंचिद् ऊनता है सो शरीरान्नोपाह्नकर्ममें उत्पन्न नासिका आदि छिद्रोंके अपूर्ण होनेपर जिम क्षणमें सयोगीके अन्त समयमें मिश्रत् मृत्तियोंके उदयका नाश हुआ उनमें शरीरान्नोपाह्न कर्मका भी विच्छेद होगया अतः उसी समय हुआ है यह जानना चाहिये । अब दां कोई शंका करता है कि जैसे दीपके आवरण करनेवाले पात्र आदिके हटा देनेमें उस

दीपकके प्रकाशका विन्धार हो जाना है उसी प्रकार देहका अभाव होनेपर सिद्धोंका अ-
 लोकप्रमाण होना चाहिये । अब इसका परिहार कहते हैं—जो यह दीपकमेंवंगी प्रकाश
 विन्धार है वह तो पहले स्वभावमें ही दीपकमें रहता है और पीछे उम दीपकके अभाव
 होता है; और जीवके तो लोकमात्र अमंगलान् प्रदेशत्व स्वभाव है और जो प्रदेशके
 विस्तार है वह स्वभाव नहीं है। कदाचित् यह कही कि जीवके पहले लोकमात्र में
 विस्तृत हुए आवरणरहित रहते हैं और फिर जैसे प्रदीपके आवरण होना है वैसेही जो
 प्रदेशोंके भी आवरण हुआ है; सो नहीं, किन्तु जीवके प्रदेश तो पूर्वकालमें ही अनादि-
 लसे सन्तानरूप चले आये हुए शरीरसे आवरणसहितही रहते हैं । इम हेतुमें जैते
 प्रदेशोंका संहार तथा विन्धार शरीर नामक नामकर्मके आधीनही है और जीवका सन्तान
 नहीं है इस कारणसे जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोंका विन्धार नहीं होता है।
 इस विषयमें और भी उदाहरण देते हैं कि जैसे पुरुषकी मुट्टीमें चार हाथका बंध रह
 हुआ है, अब वह बंध यदि पुरुष हो तब ही तो उसकी प्रेरणासे संकोच व विन्धार कर
 सकता है और पुरुषके अभावमें संकोच तथा विस्तार नहीं कर सकता; जैसा उम पुत्र
 छोड़ा वैसाही रहता है । अथवा गीला मृत्तिकाका भाजन बनते समय तो संकोच व
 विस्तारको प्राप्त हो जाता है और जब वह शुष्क हो जाता है तब जलका अभाव होनेसे
 संकोच व विस्तारको नहीं प्राप्त होता है इसी प्रकार जीव भी पुरुषके स्थानमें
 अथवा जलके स्थानमें शरीरके अभावमें संकोच विस्तारको नहीं प्राप्त होता है ।
 कितनेही कहते हैं कि “जीव जिस स्थानमें कर्मसे मुक्त होता है वहांही रहता है。” इन्के
 निषेधके लिये कहते हैं । पूर्वप्रयोगसे, असंग होनेसे, बंधका नाश होनेसे तथा गतिके दृ-
 ष्टिगामसे ऐसे इन चार हेतुओंसे जीवका ऊर्ध्व गमन जानना चाहिये अथवा अमते हु-
 कुलाल (कुम्भकार)के चाककी सदृश, मृत्तिकाके लेपरहित तुंबीके सदृश, एरंडके नीचे
 तुल्य, अथवा अग्निकी गिखाके समान, इन चार दृष्टान्तोंसे जीवके स्वभावसे ऊर्ध्व गमन
 जानना चाहिये और वह ऊर्ध्व गमन भी लोकके अग्रभागतक ही होता है और
 इसके आगे नहीं; क्योंकि, वहां धर्मीलिकायका अभाव है । सिद्ध नित्य हैं । यहांपर जो निषेध
 विशेषण है सो सदाशिववादी यह कहते हैं कि “१०० कल्प प्रमाण समय व्यतीत होने
 पर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवोंका संसारमें आगमन होता है”
 इस मतका निषेध करनेके लिये है ऐसा समझना चाहिये । सिद्ध उत्पाद तथा व्यपे-
 युक्त है । यहां जो उत्पाद व्यप संयुक्तपना सिद्धोंका विशेषण कहा है वह सर्वथा अपरि-
 णामिताके निषेधके लिये है । यहांपर विशेष यह है कि कोई शंका करे कि सिद्ध तो
 निरन्तर निश्चल तथा विनाशरहित जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है उसीमें अमते हैं, उनमें
 भिन्न जो नरक आदि गतियोंमें भ्रमण करना है वह सिद्धोंके नहीं है इसलिये सिद्धोंमें

तथा व्यय कैसे मानते हो: इस शंकाका परिहार यह है कि आगममें कहे हुए जो
 आदि पद स्थानोंमें पड़े हुए हानिवृद्धि स्वरूपमें अर्थ पर्याय हैं उनकी अपे-
 उत्पाद व्यय है। अथवा जिस जिस उत्पाद व्यय प्रौढ्यरूपसे प्रति समय
 पदार्थ परिणमते हैं उन उनकी परिच्छित्तिके आकारसे निरिच्छक (इच्छारहित)
 सिद्धोंका ज्ञान भी परिणमता है इस कारणसे उत्पाद व्यय है। अथवा सिद्धोंमें व्यं-
 पर्यायकी अपेक्षासे संसार पर्यायका नाश, सिद्ध पर्यायका उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्य-
 प्रौढ्य है। ऐसे नय विभागसे नौ अधिकारोंद्वारा जीव द्रव्यका स्वरूप जानना
 अथवा यही जीवात्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इन भेदोंसे तीन
 होता है। वह इस प्रकार है—निजशुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो पारमार्थिक
 (यथार्थ) सुख उससे विरुद्ध जो इन्द्रियसुख उसमें आसक्त बहिरात्मा है; उससे
 विलक्षण अन्तरात्मा है। अथवा देहरहित जो निजशुद्ध आत्मा रूप द्रव्य, उस आत्म-
 द्रव्यकी भावनारूप जो भेद ज्ञान है, उससे रहित होनेके कारण देह आदिपर (अन्य)
 जो एकत्व भावनासे परिणत है अर्थात् देह आदिमें यह भावना करता है कि देह
 ही हूँ वह बहिरात्मा है। और इस बहिरात्मासे विरुद्ध अर्थात् निजशुद्ध आत्मा-
 आत्मा जाननेवाला अन्तरात्मा है। अथवा हेय तथा उपादेयका विचार करनेवाला
 जो चिन्तन तथा निर्दोष परमात्मासे भिन्न राग आदि दोष और शुद्ध चिन्तनरूप लक्षणका
 धारक आत्मा ऐसे इन पूर्वोक्त लक्षणोंके धारक जो चित्त, दोष और आत्मा हैं इन तीनोंमें
 अथवा बीतराग सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थोंमें जिसके परस्पर अपेक्षाके धारक नयोंके विभा-
 गसे श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है और उस बहिरात्मामें भिन्न लक्षणका
 धारक अन्तरात्मा है। इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्माका लक्षण जानना चाहिये। अब
 परमात्माका लक्षण कहते हैं—संपूर्ण तथा निर्मल ऐसे केवलज्ञान द्वारा जिस कारणसे
 समस्त लोक अलोकको जानता है अर्थात् व्याप्त होता है, इस हेतुसे यह परमात्मा विष्णु
 कहाता है। परब्रह्म नामक निजशुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुराष्ट्रमें मृत होनेसे
 उर्वशी, तिलोत्तमा तथा रंभा आदि देवकन्याओंने भी जिसके ब्रह्मचर्य प्रतकी स्तब्धित न
 किया वह परम ब्रह्म कहलाता है। केवल ज्ञान आदि शुणरूप ऐश्वर्य युक्त होनेसे जिसके
 पदकी अभिलाषा (चाह) करते हुए देवोंके इन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञाका पालन करते
 हैं, इसलिये वह परमात्मा ईश्वर इस नामका धारक होता है। केवल ज्ञान इस शब्दमें
 वाच्य (कहने योग्य) है सु (उपम) गत (ज्ञान) जिसका यह सुगत है। अथवा सु
 कहिये शोभायमान अविनश्वर (नाशरहित) मुक्तिके स्थानको जो प्राप्त हुआ सो सुगत
 है। तथा “शिव कहिये शान्त, अक्षय और परम ब्रह्मणरूप निर्वाण मुक्तिपदको जिसने
 प्राप्त किया वह शिव कहलाता है। १।” इस श्लोकमें बड़े हुए लक्षणका धारक होनेसे

वह परमात्मा शिव है। काम, क्रोध आदि दोषोंको जीतनेसे अनन्त ज्ञान धारक जिन कहता है; इत्यादि परमात्ममें कहे हुए एक हजार आठ नामोंमें योग्य) जो है उसको परमात्मा जानना चाहिये। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों मध्यमें जो मिथ्यादृष्टि मन्त्र जीव है उसमें बहिरात्मा तो व्यक्तिरूपसे रहता है परमात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसेही रहते हैं। और भारी नेगमनपक्षी व्यक्तिरूपसे भी रहते हैं। और मिथ्यादृष्टि अमन्त्रजीवमें तो बहिरात्मा अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे ही रहते हैं। और भारी नेगमनपक्षी अन्तरात्मा तथा परमात्मा अमन्त्रमें व्यक्तिरूपसे नहीं रहते। कदाचित् यह कहे अमन्त्र जीवमें परमात्मा शक्तिरूपसे रहता है तो अमन्त्रत्व कैसे हो सकता है? शंकाका उत्तर यह है कि अमन्त्र जीवमें परमात्माकी जो शक्ति है उसकी आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिये उसमें अमन्त्रत्व है और शुद्ध नयसे शक्ति तो मिथ्यादृष्टि मन्त्र और अमन्त्र इन दोनोंमें समानही है। और यदि शक्तिरूपसे भी केवल ज्ञान नहीं हो तो केवल ज्ञानावरण कर्म नहीं सिद्ध अमन्त्र ये दोनों अशुद्ध नयसे हैं यह भावार्थ है। इस प्रकार जैसे मिथ्या परमात्ममें नयविभागसे तीनों आत्माओंका प्रदर्शन किया उसी प्रकार भारीके हैं उनमें भी देखा चाहिये। ये इस प्रकार हैं:- बहिरात्माकी दशात्म परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे रहते हैं और भारी नेगमनयमे व्यक्तिरूपसे ज्ञानना चाहिये। और अन्तरात्माकी अवस्थामें तो बहिरात्मा भूतपूर्व न्यायमान और परमात्माका स्वरूप शक्तिरूपमें तथा भारी नेगम नयकी अपेक्षा गनना चाहिये। और परमात्माकी अवस्थामें अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा ये नयसे ज्ञानने चाहिये। अतः तीनों प्रकारके आत्माओंको गुणस्थानोंमें योजित मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानोंमें तारनभ्य न्यूनार्थिक भावसे ज्ञानना चाहिये, अविज्ञ नाम चतुर्थ गुणस्थानमें उसके योग्य अनुभ वेदयाओंमें अमन्त्र अन्तरात्मा है और शीतकणाय नामक बारहवें गुणस्थानमें उच्छेद अन्त अमन्त्र और शीतकणाय अर्थात् चतुर्थ तथा बारहवें गुणस्थानोंके मध्यमें जो सा स्वन है उनमें मन्त्र अन्तरात्मा है तथा गयोगी और अयोगी इन दोनों गुण स्थानोंमें उच्छेद अमन्त्र अन्तरात्मा है और विद्व तो सासादन पर है। दश बहिरात्मा तो देव है और उच्छेदयन् अन्तर्गुणका सासादन होनेसे उच्छेद है तथा परमात्मा सासादन उच्छेद है, यह अविज्ञान है। इस प्रकार

प्रकाशके केवल ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदिरूप अशुद्ध उपयोग है, इस रीतिसे शुद्ध तथा अशुद्ध भेदसे उपयोग दो प्रकारका है, व्यक्त (अस्पष्ट) सुखदुःखानुभव स्वरूप कर्मफलचेतना तथा मतिज्ञानसे आदि लेके पर्यय पर्यन्त चारों ज्ञानरूप अशुद्ध उपयोग तथा निजचेष्टापूर्वक इष्ट तथा अनिष्ट संपूर्ण रागद्वेष रूपसे जो परिणाम हैं वह कर्मचेतना है, केवल ज्ञानरूप शुद्ध इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणका धारक उपयोग तथा चेतना ये जिसमें नहीं हैं वह अजीव इस प्रकार जानना चाहिये । “पुगल धम्मो अधम्म आयासं कालो” और वह अजीव पुगल धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यके भेदसे पांच प्रकारका है । पूरण तथा गलन सहित होनेसे पुद्गल कहा जाता है, अर्थात् पूर्ण करने और छीजनेका स्वभाव जिसमें है पृथिवी आदि सब पुद्गल पर्याय है । तथा क्रमसे गति, स्थिति, अवगाह और लक्षण सहित धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चारों द्रव्य हैं; अर्थात् गतिलक्षण स्थितिलक्षण अधर्म, अवगाह देनेके लक्षणका धारक आकाश तथा चर्चना लक्षण पुद्गल द्रव्य है । “पुगल मुत्तो” पुद्गल मूर्त है । क्योंकि, वह “रूवादिगुणो” रूप गुणोंसे सहित है । “अमुत्ति सेसा हु” पुद्गलके विना बाकी धर्म, अधर्म, आकाश और ये चारों रूप आदि गुणोंका अभाव होनेसे अमूर्त हैं । जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवोंमें साधारण हैं; उसी प्रकार रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चार गुण सब पुद्गलोंमें साधारण हैं । और जैसे शुद्ध पुद्गल स्वभावके धारक सिद्ध जीवमें अनन्त चतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु द्रव्यमें रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय है । जैसे राग आदि श्रेह गुणसे कर्मवशात् बन्धामें ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य इन चारोंकी अशुद्धता है; उसी प्रकार शिग्ध सूक्ष्म गुणसे श्लेष्मिक आदि बंधावश्यामं रूप आदि चतुष्टयकी अशुद्धता है । जैसे श्लेहरहित विपरमान्मार्दी भावनाके बलसे राग आदि शिग्धताका विनाश होनेपर अनन्त चतुष्टय शुद्ध है; वैसे “जपन्थ्य गुणोंका बन्ध नहीं होता है” इस वचनसे परमाणु द्रव्यमें शिग्ध चतुष्टयकी जपन्थ्यता होनेपर रूप आदि चतुष्टयका शुद्धत्व समझना चाहिये, न अनिश्चय है ॥ १५ ॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावय्यन्नपययांयान्प्रतिपादयति ।

अथ पुद्गल द्रव्यके विभावय्यन्नपययांयान्प्रतिपादन करने है ।

ध्याख्या—शब्दबन्धसौक्ष्म्यसौख्यसंस्थानभेदतमश्लाघायातपोगतमहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया भवन्ति । अथ विस्तारः—भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविधः शब्दः । तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति । तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा । अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वशदिव्यध्वनौ च । अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैभ्रसिकभेदेन द्विविधः । “तत्तं वीणादिकं शैर्यं विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यतालादि वशादि सुपिरं विदुः । १ ।” इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भवः प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति । विश्रसा स्वभावेन भवो वैभ्रसिको मेधादिप्रभवो बहुधा । किञ्च शब्दातीतनिजपरमात्मभावानान्युतेन शब्दादिमनोक्षामनोक्षपञ्चेन्द्रियविपर्यासकेन च जीवेन यदुपाजितं सुस्वरदुःस्वरनामकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीवसंयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति । बन्धः कथ्यते—मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बन्धः स केवलः पुद्गलबन्धः, यस्तु कर्मनोकर्मरूपः स जीवपुद्गलसंयोगबन्धः । किञ्च विशेषः—कर्मबन्धपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्रूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धः, तथैवागुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव । यित्वाद्यपेक्षया यदरादीनां सूक्ष्मत्वं, परमाणोः साक्षादिति । यदराद्यपेक्षया यित्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कन्धे सर्वोत्कृष्टमिति । समचतुरस्रन्यमोघसात्विककुञ्जवामनदण्डभेदेन पटप्रकारसंस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्यासि तथाप्यसंस्थानादिबन्धमत्कारपरिणतोभिन्नत्वाभिन्नयेन पुद्गलसंस्थानमेव । यद्यपि जीवादन्यत्र पृच्छप्रिकोणचतुष्कोणादिष्वप्यव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव । गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतरण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः । दृष्टिप्रतिबन्धकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते । वृक्षाद्याध्वरूपा मनुष्यादिप्रतिबन्धरूपा च छाया विज्ञेया । उद्योतश्चन्द्रविमाने खद्योतादिनिर्यग्जीवेषु च भवति । आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकान्तमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः । अयमशार्थः—यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिपक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जनपर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबन्धवशात् क्षिप्ररूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्टस्य नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्गलस्यापि निश्चयनयेन शुद्धपरमाण्ववग्यालक्षणे स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि क्षिप्ररूक्षत्वाद्बन्धो भवतीति वचनाद्वागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यक्षिप्ररूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणात्तदुदादन्येऽप्ययागमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः । एवमजीवाधिकारमप्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टययुक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितगन्दादिपर्यायसहितस्य सश्लेषेणागुत्कन्धभेदभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य ध्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥१६॥

ध्याख्यार्थः—शब्द, बंध, शुद्धता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इन सहित पुद्गल द्रव्यके पर्याय होते हैं । अब इस विषयको विस्तारसे कहते हैं—भाषात्मक तथा अभाषात्मक इस प्रकार शब्द दो प्रकारका है । उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेदसे दो प्रकारका है । उनमें भी संस्कृत, प्राकृत तथा उनके

अपभ्रंशरूप पेशाची आदि भाषाओंके भेदसे आर्य, म्लेच्छ मनुष्योंके व्यवहार अक्षरात्मक भेद भी अनेक प्रकारका है। और अनक्षरात्मक भेद द्वीन्द्रिय आदि त्रय तथा सर्वज्ञकी दिव्य ध्वनिमें है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक तथा वैश्रसिक दो प्रकारका है। उनमें "वीणा आदिसे उत्पन्न शब्दको तत, दोल आदिसे उत्पन्न वृत्त, वितत, मंजिरे तथा तालसे उत्पन्न हुए शब्दको घन और बांसके छिद्र आदिसे उत्पन्न वंशी आदिसे उत्पन्न शब्दको सुषिर कहते हैं।" इस श्लोकमें कथित क्रमके अनुसार प्रायोगिक (प्रयोगसे उत्पन्न होनेवाला) शब्द चार प्रकारका है, और विश्रम् अर्थात् सन्-उत्पन्न वैश्रसिक शब्द जो कि मेघ आदिसे उत्पन्न होता है वह अनेक प्रकारका विशेष यहां यह है कि शब्दसे रहित जो निज परमात्मा है उसकी भावनासे गिरा और शब्द आदि जो मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें जन्म हुए जीवने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नामकर्मका उपार्जन किया उस कर्मके उदयसे स जीवमें शब्द दीख पड़ता है तथापि वह शब्द जीवके संयोगसे उत्पन्न होनेके व्यवहार नयसे जीवका शब्द कहा जाता है और निश्चयनयसे तो वह शब्द पुद्गल ही है। अब बंधका निरूपण करते हैं—श्रुतिका आदिके पिंडरूपसे जो घट, गृह, मो आदि बंध है वह तो केवल पुद्गलबंधही है और जो कर्म नोकर्म रूप बंध है वह तथा पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न बंध है। और यहांपर विशेष यह जानना चाहिये कि बंधसे भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा है उसकी भावनासे रहित जीवके अनुपचरित अस व्यवहार नयसे द्रव्य बंध है, और इसी प्रकार अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे जो रागादिरूप भावबंध कहा जाता है वह भी शुद्ध निश्चयनयसे पुद्गलका ही बंध है। निर फल (बेल) आदिकी अपेक्षा बदर (बेर) आदि फलोंमें सूक्ष्मता है और परमाणुमें सूक्ष्मता है अर्थात्—वह किसीकी अपेक्षासे नहीं है ऐसी सूक्ष्मता है। बदर आदि फलोंमें अपेक्षा बिल्व आदि फलोंमें स्थूलत्व (बड़ापना) है और तीन लोकमें व्याप्त महाशुद्धि मर्वोत्कृष्ट (मयसे अधिक) स्थूलत्व है। सम, चतुरस्र (चतुष्कोण), न्यग्रोध, सातवामन और हुंड इन भेदोंसे पद ६ प्रकारका संस्थान यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके तथापि संस्थानशून्य जो चेतनचमत्कार परिणाम है उससे भिन्न होनेके कारण निश्चय औरशागे पुद्गलकाही संस्थान है; और जो जीवमें अन्य स्थानोंमें गोल, त्रिकोण, चौकोर आदि प्रकृत तथा अप्रकृत रूप अनेक प्रकारका संस्थान है वह भी पुद्गलमें ही है। गोधूम (गहूँ) आदिके धून रूपमें तथा धी, स्वांड आदि रूपमें अनेक प्रकारका संस्थान जानना चाहिये। दृष्टिका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) जो अंधकार है उसको सम कहते हैं। वृक्ष आदिके आश्रयमें होनेवाली तथा मनुष्य आदिके प्रतिबिम्बरूप जो है वह छाप जाननी चाहिये। चन्द्रमाके शिवालमें तथा मनोव (जुगन् व आया) आदि निर्वच

नेत्रों उद्योत होता है । मूयके विमानमें तथा और इसमें भिन्न जो सूर्यक्रान्त आदि लिके भेद है उन रूप पृथ्वीरायमें आतप जानना चाहिये । यहाँपर यह आशय है कि मे शुद्धनिश्चयनमें जीवके निज आकाशी मासिरूप गिद्ध स्वरूपमें समाव व्यञ्जन राय विद्यमान है तो भी अनादि कालके कर्मबंधनके बन्धने पुद्गलके छिन्ध तथा रुक्ष रूपके स्थानगत राग द्वेष परिणाम होनेपर स्वाभाविक परमानन्दरूप स्वास्थ्य भावसे भ्रष्ट रूप जीवके मनुष्य, नारक आदि विभाव व्यञ्जन पर्याय होते हैं; उसी प्रकार पुद्गलके भी नेश्वर नयमें शुद्ध परमाणु अवस्थारूप स्वभाव व्यञ्जन पर्यायके विद्यमान होते हुए भी 'छिन्ध तथा रुक्षतामें बंध होता है.' इस बचनमें राग और द्वेषके स्थानको प्राप्त हुए रोगधन्व तथा रुक्षत्व परिणामके होनेपर पूर्वोक्त लक्षण शब्द आदिके अतिरिक्त अन्य भी शास्त्रोक्त लक्षणके धारक आयुष्मन्, प्रसारण, दधि, तथा दुग्ध आदि विभाव व्यञ्जन पर्याय मानने चाहिये ॥

इस प्रकार अजीव अधिकारके मध्यमें "अजीवो" इत्यादि पूर्वसूत्रमें कथित रूप, रस आदि चार गुणोंसे युक्त तथा इस "सदो बंधो" इत्यादि सूत्रमें कथित जो शब्द बंध आदि पर्याय है उन गदित तथा अणु, स्कन्ध आदि भेदोंसे भिन्न जो पुद्गलद्रव्य है उसका संश्लेषमें मुख्यपनेसे निरूपण करने द्वारा प्रथम स्थलमें दो गाथायें समाप्त हुई ॥ १६ ॥

अथ धर्मद्रव्यमाख्याति ।

अथ धर्मद्रव्यकी व्याख्या करते हैं ।

गह् परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहपारी ।

तोयं जह् मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेह् ॥ १७ ॥

गाथाभावार्थः—गति (गमनमें) परिणत जो पुद्गल और जीव हैं उनके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी है,—जैसे मत्स्योके गमनमें जल सहकारी है और नहीं गमन करते हुए पुद्गल और जीवोंको वह धर्मद्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है ॥ १७ ॥

व्याख्या । गतिपरिणतानां धर्मो जीवपुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति । दृष्टान्त-माह—तोयं यथा मत्स्यानाम् । स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति जानिति । तथाहि—यथा सिद्धो मगवानमूर्त्तोऽपि निष्क्रियस्त्वैवाग्नेरकोऽपि सिद्धबद्धनन्तरानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यव-हारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानां निश्चयेन निर्बिकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणप-रिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति । तथा निष्क्रियोऽमूर्त्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । लोचप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिबदित्यभिप्रायः ॥ एवं धर्मद्रव्यव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—गतिमें परिणत अर्थात् गमनक्रियामहित जीव तथा पुद्गलोंके धर्म-

द्रव्य गमनमें सहकारी कारण अर्थात् गतिमें सहायक होना है। इसमें दृष्टान्त देने जैसे मत्स्योंके गमन करनेमें जल सहायक है। परन्तु स्वयं उठरे हुए जीव पुद्गलोंके धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। अब इस विषयको अन्य दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं। सिद्ध भगवान् अमूर्त हैं, कियारहित हैं तथा किसीको प्रेरणा करनेवाले भी नहीं हैं। “मैं सिद्धोंकी भांति अनन्त ज्ञान आदि गुणरूप हूँ” इत्यादि व्यवहारसे सविकल्प मक्तिके धारक और निश्चयसे निर्विकल्प ध्यानरूप अपने उपादान कारणसे जो मव्य जीवोंके वे सिद्ध भगवान् सिद्ध गतिमें सहकारी कारण होते हैं। इसी प्रकार रहित, अमूर्त और प्रेरणारहित जो धर्मालिकाय है वह भी अपने अपने उपादानोंसे गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनका सहकारी कारण होता है। वे प्रसिद्ध गेमे दृष्टान्तसे तो जैसे मत्स्य आदिके गमनमें जल आदि सहकारी कारण हैं जीव पुद्गलके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी कारण है ऐसा जानना चाहिये। यह अभिप्राय इस प्रकार धर्मद्रव्यके व्याख्यान रूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ १७ ॥

अथ धर्मद्रव्यमुपदिशति ।

अब अधर्मद्रव्यका उपदेश करते हैं ।

टाण जुवाण अधम्मो पुग्गलजीवाण टाणसह्यारी ।

छाया जह पहियाणं गच्छन्ता णेव सो धरई ॥ १८ ॥

गायामावार्थः—स्त्रितिसहित जो पुद्गल और जीव हैं उनकी स्थितिमें कारण अधर्म द्रव्य है जैसे पहियों (चटोहियों)की स्थितिमें छाया सहकारी गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य नहीं उठरता है ॥ १८ ॥

व्याख्या । स्थानयुक्तानामयमः पुद्गलजीवानां स्थितः सहकारिकारणं भवति । दृष्टान्तः—छाया यथा पहिकानाम् । स्वयं गच्छतो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति । तथा स्वसंज्ञितमनुपपन्नमुत्पन्नरूपं परमस्याम्यं यद्यपि निश्चयेन स्वरूपे स्थितिकारणं भवति । अस्मिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अज्ञाननागादिगुणसमिद्धोऽहं । देहपमाणो जित्तो अमंगरदेसो अनुसोय । इति गाथाकथितमिद्धमस्मिद्धरूपेणैव पूरं सविकल्पावस्थायां मिद्धोऽपि यथा मध्यानां । रङ्गमहकारिकारणं भवति तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानि धर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम् । लोच्छ्रयवहारेण तु छायावदा शुभिवीरदेति सूत्रायै एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थः—निनिमटिन जो पुद्गल तथा जीव हैं उनकी स्थितिमें सहकारी अधर्म द्रव्य है । उसमें दृष्टान्तः—जैसे छाया पहियोंकी स्थितिमें सहकारी कारण और स्वयं गमन करते हुए जीव पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य कदापि नहीं उठरता है । जैसे है—यद्यपि निश्चयमें अपने आत्मज्ञानमें उत्पन्न मुत्पन्नरूप जो परमव्याम्य है

रूपमें स्थितिका कारण होता है; परन्तु "मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्त ज्ञानआदि
कोका धारक हूं, शरीरप्रमाण हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशोंका धारक हूं तथा अमूर्त
। १ ।" इस गायमें कहीहुई सिद्धभक्तिके रूपसे हम संसारमें पहले सविकल्प अव-
ज्ञामें सिद्ध भी जैसे भव्य जीवोंके बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी प्रकार अपने २
सादान कारणसे स्वयं ही उदरते हुए जीव पुद्गलोंके अधर्म द्रव्य स्थितिका सहकारी
कारण होता है। और लोकके व्यवहारसे जैसे छाया अथवा पृथिवी उदरते हुए पथिकोंकी
स्थितिमें सहकारी होती है वैसे ही स्वयं उदरते हुए जीवपुद्गलोंकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य
स्थितिमें सहकारी होता है। यह सूत्रका भावार्थ है ॥ एते अधर्मद्रव्यके निरूपणद्वारा
गाथा समाप्त हुई ॥ १८ ॥

अयाकाशद्रव्यमाह ।

अव आकाश द्रव्यका कथन करते हैं ।

अचगासदाणजोग्गं जीवादीणं विषाण आपासं ।

जेण्हं लोगागासं अद्दोगागासमिदि दुषिहं ॥ १९ ॥

गाथाभावार्थः—जो जीव आदि द्रव्योंको अवकाश देनेवाला है उसको धीजिनेन्द्र करके
। हुआ आकाश द्रव्य जानो । वह लोककाश और अलोककाश इन भेदोंमें दो प्रकार
हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या । जीवादीनामवकाशादानयोग्यमाकाशं विजानीहि हे शिष्य । किं विजिष्टं "जेण्हं"
अस्येहं जैनं, जिनेन प्रोक्तं वा जैनम् । तच्च लोकालोकाकाशभेदेन द्विविधमिति । इदानीं
कारः—सहजशुद्धसुगममृतरसास्वादेन परमसमरसीभावेन भरितावशेषु बेबहजानाणन-
णाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमितामंल्येयस्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन तिष्ठान्ति-
त, तथाप्युपचरितामद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते इत्युक्तोऽर्थः । न
ईदृशी मोक्षो यत्र प्रदेशे परमस्वानेनात्मा स्थितः सन् कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति
यत्र । ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा उर्ध्वगमनस्यभावेन गत्वा मुक्तात्मानो पतो लोकाये
ते तत्र उपचारेण लोकाप्रमपि मोक्षः प्रोच्यते । यथा तीर्थभूतपुरषसेवितम्भानमपि
नजलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति । सुगमोपार्थं कथितमान्ते यथा तथैव सर्वद्रव्याजि-
पि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशं
ऽन्तीत्यभिप्रायो भगवतां भीजेमिषण्ड्रमिद्वान्तदेवानामिति ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थः—हे शिष्य । जीवादि द्रव्योंको अवकाश (रहनेको स्थान) देनेकी योग्यता
में है उसको जिन भगवान् गंधन्धी अथवा धीजिनेन्द्र करके बरा हुआ आकाश द्रव्य
को । और वह आकाश लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदोंमें दो प्रकारका है ।
। इसका वर्णन विभारसे करते हैं । स्याभाविक तथा शुद्ध सुभरूप अमृतरसके आस्व-
। परम समरसीभावेसे पूर्ण अवस्थाओसे मुक्त तथा बेबल ज्ञान आदि अनन्त गुणोंके

आधारभूत होनेसे जो लोकाकाश प्रमाण अगमव्याप्त अपनी अन्तर्क प्रदंन है, निश्चयनयकी अपेक्षामें मिद्ध जीव नियाम करने हैं; तथापि उपचारित अमरु नयसे सिद्ध मोक्षशिक्षामें रहते हैं ऐसा कहा जाता है । यह पढ़ने कर चुके हैं। ऐसा मोक्ष जिस प्रदेशमें आत्मा परमव्याप्त मुक्त होकर कर्मरहित होना है वह नहीं । ध्यान करनेके स्थानमें कर्म पुत्रोंको छोड़कर तथा ऊर्ध्वगन् गमन कर मुक्त जीव जिस हेतुमें लोकके अग्रभागमें जाके नियाम करने हैं । लोकका जो अग्रभाग है वह भी उपचारसे मोक्ष कहलाना है । जैसे कि तीर्थानुसंघित भूमि तथा जल आदिरूप स्थान भी उपचारसे तीर्थ होना है । यह वन शिष्योंको मुखसे समझानेके लिये किया गया है । जैसे मिद्ध निजप्रदेशमें रहने प्रकार निश्चयनयसे यद्यपि सभी द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं, तबसे चरित असद्गुत व्यवहार नयसे लोकाकाशमें सब द्रव्य निष्ठते हैं ऐसा यहाँ श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका अभिप्राय जानना चाहिये ॥ १९ ॥

तमेव लोकाकाशं विशेषेण द्रवयति ।

अथ उसी लोकाकाशको विशेषण रूपमें दृढ करते हैं ।

धम्मा धम्मा कालो पुग्गलजीवाय संति जावदि ये ।

आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुरिति ॥ २० ॥

गाथाभावार्थः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्य जितने शमें हैं वह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाशके आगे अलोकाकाश है ॥ २० ॥

व्याख्या । धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्काशे स लोकः । तथा लोक्यन्ते हृद्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति । तस्माद्दोकाकाशात्परतो पुनरनन्ताकाशमलोक इति । अत्राह मोमाभिधानो राजश्रेष्ठी । हे भगवन् ! केवलज्ञानमय भागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति । स चानादिनि केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हतो न धृतो न च रक्षितः । तथैवासंख्यातप्रदेशमन्तप्रदेशे लोकेश्वरान्तजीवासेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालागुणानि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशां लभन्त भगवानाह—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशावदेकगूडरसनागगद्याणके बहुमुक्तावर्ष पटमध्ये सूचिकोद्गुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादमंख्यातप्रदेशे लोकेश्वरान्तमवगाहो न विरुध्यते । यदि पुनरित्यंभूतावगाहनशक्तिर्न भवति तदासंख्येयप्रदेशेष्वमंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन रूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मना स्वकिरूपेण व्यवहारनयेनापि न च तथा विरोधादागमविरोधासंति । एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पांचों द्रव्य जितने आकाश

रहते हैं उतने आकाशके भागका नाम लोक अथवा लोकाकाश है । ऐसा कहा भी है—जहांपर जीव आदि पदार्थ देखनेमें आते हैं वह लोक है । उस लोकाकाशसे परे त् बाह्य भागमें जो अनन्त आकाश है वह अलोक अथवा अलोकाकाश है । अवर मोम है नाम जिसका ऐसा राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! केवल ज्ञानका अनन्त भाग है उस प्रमाण तो आकाश द्रव्य है और उस आकाशके अनन्त भागों-एक भागमें सबके विचले भागमें लोक है और वह लोक आदि तथा अन्तमें रहित न किसी पुरुषका बनाया हुआ है, न किसीसे विनाशित है, न किसीसे धारण किया है और न किसीसे रक्षा किया हुआ है । और असंख्यात प्रदेशोंका धारक है । उस ख्यात प्रदेशोंके धारक लोकमें अनन्तों जीव, अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण ख्यात कान्माणु द्रव्य, लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा लोकाकाश प्रमाणही अघर्म द्रव्य प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक पदार्थ कैसे अवकाशको प्राप्त होते हैं? इस शंकाका उत्तर । कर दीजिये । अब भगवान् इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे एक दीपकके प्रकाशमें क दीपोंका प्रकाश अवकाशको पाता है उस तरह, अथवा जैसे एक गूढ रमविशेषमें हुए शीशेके भांडमें बहुतसा सुवर्ण अवकाश पाता है उस प्रकार, अथवा भस्ममें भरे घटमें जैसे सूई और ऊंटनीका दूध आदि समाजाते हैं उस प्रकार विशिष्ट अवगाहन के बशमें असंख्यात प्रदेशवाले लोकमें पूर्वोक्त जीव पुद्गलदिकोंका रहना विरोधको नहीं होता । और यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न हो तो लोकके असंख्यात शोमें असंख्यात परमाणुओंका ही निवास हो । और ऐसा होनेपर जैसे शक्तिरूप शुद्ध ज्ञानयसे सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक है, वैसेही व्यक्ति-व्यवहारनयसे भी हो जायें; और ऐसे हैं नहीं । क्योंकि, इस माननेमें प्रत्यक्षमें और तमसे विरोध है ॥ इस प्रकार आकाश द्रव्यके निरूपणसे दो सूत्र चरितार्थ हुए ॥२०॥ अथ निश्चयव्यवहारकालम्बरूपं कथयति ।

अब निश्चयकाल तथा व्यवहारकालके स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

द्रव्यपरिग्रहद्रव्यो जो सो कालो ह्येह व्यवहारो ।

परिणामादी लक्षणो घट्टणलक्षणोऽप्य परमहो ॥ २१ ॥

शांथाभावायः—जो द्रव्योंके परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है वह व्यवहारकाल है और वर्तना लक्षणका धारक जो काल है वह निश्चयकाल ॥ २१ ॥

प्याख्या । “द्रव्यपरिग्रहद्रव्यो जो” द्रव्यपरिवर्तनरूपो यः “जो कालो ह्येह व्यवहारो” कालो भवति व्यवहाररूप । स च कथंभूतः “परिणामादी लक्षणो” । आपारलंन लभ्यत इति परिणामादिलक्ष्य । इदानीं निश्चयकाल

“वृष्टालङ्गरोय परमद्वे” वर्तनालक्षणञ्च परमार्थकाल इति । तथा—जीवपुटले परिचर्त्ता नवजीर्णपर्यायस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य न भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः । तथाचोक्तं मंस्कृतप्राभृतेन—“स्थितिः कालमंशका” तत्र पर्यायस्य संबन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालमंशा भवति न च पर्याय इत्यभिप्रायः । यत एव पर्यायसंबन्धिनी स्थितिव्यवहारकालमंशां भवते तत्र एव जीवपुटलसंबन्धिपरिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया मोदीहनपाकादिपरिणालक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूगसन्नचलनकालकृत्परत्वापरत्वेन च लक्ष्यते ज्ञायते च स परिणामक्रियापरत्वापरत्वालक्षण इत्युच्यते । अयं द्रव्यरूपनिश्चयकालमाह । स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेवपरिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधमनशिलावनू, शीतकालाध्ययने अग्निवनू, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना मण्यते । सैव लक्षणं यस्य स वर्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः, इति व्यवहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च विज्ञेयम् । कश्चिदाह “समयरूप एव निश्चयकालस्मादन्यः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालो नास्त्यदर्शानान् ।” तत्रोत्तरं दीयते—समयस्त्वावत्कालस्तस्यैव पर्यायः, स कथं पर्याय इति चेत् पर्यायस्योत्पन्नप्रध्वंसित्वान् । तथाचोक्तं “मम उष्णं पर्यंसी” स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूपपर्यायकालस्योपादानकारणभूतं द्रव्यं तेनापि कालरूपेण भाव्यम् । इन्धनामिसहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवत्, अयं कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरङ्गनिमित्तोत्पन्नस्य मृन्मयघटपर्यायस्य मृत्पण्डोपादानकारणवत्, अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादानकारणवदिति । तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनान् । अयं मतं “समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकरणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुटलपरमाणुस्य निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविषटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्यायं तु दिनकरविम्बसुपादानकारणमिति नैवम् । यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिबर्णा, मुरभ्यसुरभिगन्ध—स्निग्धरूपादिस्पर्श—मधुरादिरसविशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते । तथा पुटलपरमाणुनयनपुटविषटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरविम्बरूपैः पुटलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमेषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति न च तथा । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनान् । किं बहुना । योऽसावनाद्यनिधनस्यैवामूर्त्तौ नित्यः समयाणुपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहितः कालाणुद्रव्यरूपः स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयघटिकाप्रहरादिविबक्षितव्यवहारविकल्परूपस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति । अयमत्र भावः—यद्यपि काललक्ष्यवशेनानन्तमुलभाजनो भवति जीवस्यपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वमावर्तिनः परमात्मतत्त्वस्य सम्यग्बुद्धिज्ञानज्ञानानुष्ठानसमस्तबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणरूपा वा निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न च कालस्येन स हेय इति ॥ २१ ॥

व्याख्यानार्थः—“द्रव्यपरिवर्तकं जो” जो द्रव्य परिवर्तकं है “सो कालो हवे वचाराओ” वह व्यवहाररूप काल होता है. और वह कैसा है कि “परिणामादीलसतो” परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्वसे जाना जाता है. इसलिये परिणामादिलक्ष्य है । अब निश्च-

यकालका कथन करते हैं। “वृष्टणलखो य परमद्वे” जो वर्धनालक्षण काल है वह परमार्थ (निश्चय) काल है ॥ अब इस व्यवहार तथा निश्चयकालका विन्तारसे वर्णन इस प्रकार है। जैसे—जीव तथा पुद्गलका परिवर्ध जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है उस पर्यायकी जो समय, घटिका आदिरूप स्थिति है वही जिसका स्वरूप है वह द्रव्यपर्यायरूप व्यवहार काल है। मोटी संस्कृतप्रामृत्तने कहा भी है कि “स्थिति जो है वह कालसंज्ञक है”। तात्पर्य यह है कि उस द्रव्यके पर्यायसे संबन्ध रखनेवाली जो समय, घटिका आदिरूप स्थिति है वह स्थिति ही “व्यवहारकाल” इस संज्ञाकी धारक होती है और वह जो द्रव्यका पर्याय है सो व्यवहारकाल संज्ञाको नहीं धारण करता। और जो पर्यायसंबन्धिनी स्थिति “व्यवहारकाल” इस नामको धारण करती है इसी कारणसे जीव तथा पुद्गल संबंधी परिणाम रूप पर्यायसे, तथा देशान्तरमें संचलन रूप अथवा गोदोहन, पारु, आदि परिष्पन्द लक्षणकी धारक क्रियासे, तथा दूर वा समीप देशमें चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्वसे यह काल जाना जाता है इसीलिये वह काल, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षणका धारक कहा जाता है। अब द्रव्यरूप निश्चयकालका कथन करते हैं। अपने अपने उपादान रूप कारणमे स्वयं ही परिणमनको प्राप्त होते हुए पदार्थोंके जैसे कुंभकारके चक्र (चाक) के भ्रमणमें उसके नीचेकी शिला सहकारिणी है उस प्रकार, अथवा शीतकाल (जाड़े)के पढनेमें अग्नि सहकारी है उस प्रकार जो पदार्थपरिणतिमें सहकारिता है उसीको वर्धना कहते हैं, और वह वर्धना ही है लक्षण जिसका सो वर्धना लक्षणका धारक कालाणु द्रव्यरूप निश्चय काल है। इस प्रकार व्यवहारकालका तथा निश्चयकालका स्वरूप जानना चाहिये। यहां कोई कहता है कि समय रूप ही निश्चयकाल है। उस समयसे भिन्न कालाणु द्रव्य रूप कोई निश्चयकाल नहीं है। क्योंकि, देखनेमें नहीं आता ॥ अब इसका उचर देते हैं कि समय जो है सो तो कालका ही पर्याय है। कदाचित् कहो कि समय कालका पर्याय कैसे है? तो उचर यह है कि पर्याय जो है सो “सम उप्पल-पधंसी” इस आगमोक्त वाक्यके अनुसार उत्पन्न होता है और नाशको प्राप्त होता है और वह पर्याय द्रव्यके विना नहीं होता और फिर यदि समयको ही काल मानलो तो उस समय रूप पर्याय कालका उपादान कारणभूत जो द्रव्य है उसको भी कालरूप ही होना चाहिये। क्योंकि जैसे इंधन, अग्नि आदि सहकारी कारणसे उत्पन्न ओदन पर्याय (पके चावल)का उपादान कारण चावल ही होता है; अथवा कुंभकार, चाक, चाँवर आदि बहिरंग निमित्त कारणोंसे उत्पन्न जो मृत्तिकादि रूप घट पर्याय है उसका उपादान कारण मृत्तिकाका सिंड ही है; वा नर नारक आदि जो जीवके पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव ही है; ऐसे ही समय घटिका आदि रूप कालका भी उपादान कारण काल ही होना चाहिये। यह नियम भी क्यों माना गया है कि “अपने उपादान कारणके समान ही कार्य होता है”

ऐसा बचन है । अब कदाचित् तुम्हारा ऐसा मत हो कि "समय, घटिका आदि काल-पर्यायोंका उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें मन् गतिमें परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है, तथा निमेषरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें नेत्रोंके पुटोंका विघटन अर्थात् पलरुका गिरना उठना उपादान कारण है, ऐसे ही घटिका रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें घटिकाकी सामग्रीरूप जो जलका भाजन और पुरुषके हल आदिका व्यापार है वह उपादान कारण है और दिनरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका चिम्ब उपादान कारण होता है इत्यादि । सो यह मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि, जैसे तन्दुल (चावल) रूप उपादान कारणसे उत्पन्न जो ओदन (भात) पर्याय है उसके निम्न उपादान कारणमें प्राप्त गुणोंके समान ही शुक्र, कृष्ण, आदि वर्ण, अच्छा वा बुरा गन्ध, चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मधुर आदि रस, इत्यादि विशेष गुण देख पड़ते हैं, जैसे ही पुद्गल परमाणु, नयनपुटविघटन, जलभाजन, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्यके चिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं उनसे उत्पन्न हुए समय, निमेष, घटिका, दिन आदि जो कालपर्याय हैं उनको भी शुक्र, कृष्ण आदि गुण प्राप्त होते हैं, परन्तु समय घटिका आदिमें उपादान कारणोंके कोई गुण नहीं देख पड़ते । क्योंकि, उपादानकारणके समान कार्य होता है ऐसा बचन है । अब यहां अधिक कहना व्यर्थ है । जो आदि तथा अन्तमे रहित है, अमूर्त है, नित्य है, समय आदिका उपादानकारणभूत है तो भी समय आदि भेदोंमे रहित है, और कालानु द्रव्यरूप है यह तो निश्चय काल है । और जो आदि तथा अन्तमे रहित है, समय, घटिका तथा महर आदि विवक्षित व्यवहारके विकल्पोंमे सुलभ है, यह उगी द्रव्यकालका पर्यायभूत व्यवहारकाल है । यहां तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव काटल्लिङ्गके वक्षमे अनन्त सुशुक्रा भाजन (पात्र) होता है, तथापि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावका धारक जो निज परमात्माका स्वरूप है उसके सम्यक् अज्ञान, ज्ञान, आचरण और मंगल बन्धु द्रव्योंकी इच्छाको दूर करनेरूप लक्षणका धारक तपधरण ऐसे दर्शन, ज्ञान, चरित्र तथा तपस्व जो निश्चयमे चार प्रकारकी आराधना है यह आराधना ही उस जीवके अनन्त सुम्भकी मांमिमें उपादान कारण है ऐसा जानना चाहिये । और काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये वह काल हेय (त्याग्य) है ॥ २१ ॥

अब निश्चयचाटुस्वावस्थानक्षेत्रे द्रव्यगणनां च प्रतिपादयति ।

अब निश्चयचाटुकी स्थितिचा क्षेत्र तथा कालको द्रव्योंमें क्यों गिनागया इस विषयका प्रतिपादन करने है ।

सोप्यायामपदेने इतिके जे त्रिया वृ इफिका ।

स्यसार्णं राती इय मे कालानु अमंस्वद्व्याणि ॥ २२ ॥

साधामासायः—सो सोप्यायामपदे एव एव पदेनामे रातीकी रातीके समान

भवति ततः स हेय इति । तथाचोक्तं “किं पदविण्णं यद्गुणा जे सिद्धा णरवरं गए क्खं । सिद्धिहं हि जेवि भविष्या तं जाणह सम्ममाहप्पं ?” इदमत्र तात्पर्यं—कालद्रव्यमन्यद्वा एतन्ममाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चिन विवादे न कर्त्तव्यः । कस्मादिति चेत्—विवादे रागद्वेषौ भवतन्मतञ्च संसारशुद्धिरिति ।

ध्यातार्यार्थः—“लोयायासपदेसे इक्के जे ठिया हु इक्केका” एक एक लोकाकाके प्रदेशोमें जो एक एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूपसे स्थित हैं । किसकीसी तरह “रचनाणं गंमं इव” परस्पर अभेदको त्याग कर रत्नोंकी रागिके सदृश अर्थात् रवरागिकी भांति भिन्न स्थित हैं । “ते कालणू” वे कालाणु हैं । कितनी संख्याके धारक हैं ? “असंखदब्बानि” लोकाकाग परिमाण असंख्यात द्रव्य हैं । अब द्रव्यसिद्धिमें प्रमाण कहते हैं । जैसे कि क्षणमें अंगुलिरूप द्रव्यके वक्र (वांके) पर्यायकी उत्पत्ति होती है उसी क्षणमें उसके सब पर्यायका नाश होता है और अंगुली रूपसे उस अंगुलीमें ध्रौव्य है, इस रीतिसे उत्तरी नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंसे युक्त होनेसे द्रव्यसिद्धि होगई । और भी जैसे केवल ज्ञान आदिकी व्यक्ति (प्रकटता) रूपसे कार्य समयसारका अर्थात् केवल ज्ञानादि रूपसे परिणत आत्माका उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यानरूप जो कारण समयसार है उसका नाश होता है और उन दोनोंका आधारभूत जो परमात्मा द्रव्य है उस रूपसे जान है, इस रीतिसे भी द्रव्यकी सिद्धि है । उसी प्रकार कालाणुके भी जो मन्द गतिमें परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रकट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारणमें उत्पन्न हुए ऐसे वर्तमान समयका उत्पाद है वही अतीत (गये हुए) समयकी अपेक्षा उसका विनाश है और उन वर्तमान तथा अतीत दोनों समयोंका आधारभूत कालद्रव्यपनेसे ध्रौव्य है । ऐसे उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणके धारक काल द्रव्यकी सिद्धि है । शंका—“लोकाका बास भागमें कालाणु द्रव्यके अभावसे अलोकाकाशमें परिमाण कैसे हो सकता है ?” यदि ऐसा कहो तो उत्तर यह है कि आकाश अखंड द्रव्य है इसलिये जैसे चाकके एक देगने विद्यमान दंडकी प्रेरणासे संपूर्ण कुंभकारके चाकका परिभ्रमण हो जाता है, उस तरहसे अथवा जैसे एक देगमें मिय ऐमे स्पर्शन इन्द्रियके विषयका अनुभव करनेमें समस्त शरीरमें सुम्बका अनुभव होता है उस प्रकार लोकाके मध्यमें स्थित जो कालाणु द्रव्यको धारण करनेवाला एकदेग आकाश है उसमें भी सर्व आकाशमें परिणमन होता है । शंका—जैसे कालद्रव्य जीव, पुद्गल आदि द्रव्योंके परिणमनमें महकारी कारण है वैसेही कालद्रव्यके परिणमनमें महकारी कारण कौन है ? उत्तर—जैसे आकाश द्रव्य संपूर्ण द्रव्योंका आधार है और अपना आधार भी आपही है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्योंके परिणमनमें और अपने परिणमनमें भी महकारी कारण है । अब कदाचिन् कहो कि जैसे चाक द्रव्य अपना तो उपादान कारण है और परिणमनका महकारी कारण है, वैसेही जीव आदि

।य द्रव्योंको अपने उपादान कारण और परिणतिके सहकारी कारण मानो । उन जीव आ-
 ० परिणमनमें कालद्रव्यसे क्या प्रयोजन है! समाधान—ऐसा नहीं। क्योंकि, यदि अपनेसे
 भेज बहिरंग सहकारी कारणसे प्रयोजन नहीं है तो सब द्रव्योंमें साधारण रूप (समानता)-
 । विद्यमान जो गति, स्थिति, तथा अवगाहन हैं उनके विषयमें सहकारी कारणमूल जो
 र्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य हैं उनसे भी कोई प्रयोजन नहीं है । और भी, कालका तो
 टिका (घड़ी) दिन आदि कार्य प्रत्यक्षसे देख पड़ता है और धर्म द्रव्य आदिका कार्य
 तो केवल आगम (शास्त्र)के कथनसे ही माना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्षसे नहीं
 देख पड़ता । इसलिये, जैसे कालद्रव्यका अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म
 तथा आकाश द्रव्योंका भी अभाव अवश्य प्राप्त होता है । और जब इन काल आदि चारोंका
 अभाव मानलोगे तो जीव तथा पुद्गल ये दोही द्रव्य रह जायेंगे । और दो द्रव्योंके माननेपर
 आगमसे विरोध होगा । और सब द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी होना यह केवल काल
 द्रव्यका ही गुण है । जैसे प्राण इंद्रिय (नासिका)मे रसका आस्वाद नहीं हो सकता, ऐसे
 ही अन्य द्रव्यका गुण भी अन्य द्रव्यके करनेमें नहीं आता । क्योंकि, ऐसा माननेसे द्रव्यसंकर
 दोषका प्रसंग होगा (अर्थात् अन्य द्रव्यका लक्षण अन्य द्रव्यमें चला जायगा, जो कि
 सर्वथा अनुचित है) । अब यहां कोई कहता है कि जितने कालमें एक आकाशके प्रदे-
 शको परमाणु अतिक्रमण करता है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें गमन करता है
 उतने कालका नाम समय होता है यह शास्त्रमें कहा है. और इस हिसाबसे चौदह रज्जु
 गमन करनेमें जितने आकाशके प्रदेश हैं उतने समय ही लगने चाहिये; परन्तु शास्त्रमें
 यह भी कहा है कि पुद्गल परमाणु एक समयमें चौदह रज्जु पर्यन्त गमन करता है सो यह
 कथन कैसे संभव हो सकता है! । इसका खंडन करते हैं कि आगममें जो परमाणुका एक
 समयमें एक आकाशके प्रदेशमें गमन करना कहा है सो तो मन्द गमनकी अपेक्षामें है.
 और जो परमाणुका एक समयमें चौदह रज्जुका गमन कहा है वह शीघ्र गमनकी अपेक्षामें है.
 इस कारण परमाणुको शीघ्रगतिमें चौदह रज्जु प्रमाण गमन करनेमें भी एकही समय लगता
 है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त मन्द गमन (धीरी चाल)में सौ योजन
 सौ दिनमें जाता है, वही देवदत्त विद्याके प्रभावसे शीघ्र गमन आदि करके १००
 सौ योजन एक दिनमें भी जाता है तो क्या उस देवदत्तको शीघ्रगतिसे सौ योजन गमन
 करनेमें सौ दिन लगेंगे ! किन्तु एक ही दिन लगेंगा । इसी प्रकार शीघ्र गतिसे चौदह रज्जु
 गमन करनेमें भी परमाणुको एकही समय लगता है । और भी यहां विशेष जानने योग्य
 है कि, यह जीव स्वयं (निज स्वभावसे) विषयोंके अनुभवसे रहित है तथापि अन्यके
 देखे हुए अथवा सुने हुए विषयके अनुभवको मनमें स्मरण करके जो विषयोंकी दृष्टा
 करता है उसको अपभ्रान (भ्रम ध्यान) कहते हैं । उस विषयकी अभिव्याप्ताको आदि ले,

संपूर्ण विकल्पोंका जो समूह है उससे रहित और आत्मज्ञानसे उत्पन्न स्वामाविक अनंदरूप मुखके रसके आस्वादसे सहित जो है वह वीतराग चारित्र्य है । और जो उस वीतराग चारित्र्यसे व्याप्त है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है । वह निश्चय सम्यक्त्व ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालोंमें मुक्तिका कारण है । के काल तो उस निश्चय सम्यक्त्वके अभावमें सहकारी कारण भी नहीं होता है, इस कारण वह कालद्रव्य हेय (त्याग करने योग्य) है । सो ही कहा है कि “वहुत कथनमें ही प्रयोजन है? जो श्रेष्ठ मनुष्य भूत कालमें सिद्ध हुए हैं तथा अब होंगे, वह सब सम्पन्नता माहात्म्य है” । अब यहां तात्पर्य यह है कि कालद्रव्यके तथा अन्य द्रव्योंके विषयमें कुछ विचारना हो वह सब परम आगमके अविरोधसे ही विचारना चाहिये और “सर्वज्ञका वचन प्रमाण है” ऐसा मनमें निश्चय करके उनके कथनमें विवाद नहीं चाहिये । क्योंकि, विवादमें राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन रागद्वेषोंसे वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

ऐसे कालद्रव्यके व्याख्यानकी मुख्यतासे पंचम स्थलमें दो सूत्र समाप्त हुए हैं । तीसरे आठ गाथाओंके समुदायसे पांच स्थलोंसे पुद्गल आदि पांच प्रकारके निरूपण रूपसे दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥

अतः परं सूत्रपश्चकपर्यन्तं पश्चात्तिकायव्याख्यानं करोति । तत्रादौ गायाम् द्रव्यव्याख्यानोपसंहार उत्तरार्धेन तु पश्चात्तिकायव्याख्यानप्रारम्भः कथ्यते ।

अब इसके पश्चात् पांच सूत्र पर्यन्त पंचान्तिकायका व्याख्यान करते हैं । भी प्रथम गाथाके पूर्वार्धसे एहो द्रव्योंके व्याख्यानका उपसंहार और उत्तरार्धसे कायके व्याख्यानका आरंभ करते हैं ।

एवं छम्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो द्रव्यं ।

उत्तं कालविजुत्तं णादद्या पंच अत्थिकायाद्दु ॥ २३ ॥

गायामाचार्यः—इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छह द्रव्यका निरूपण किया । इन छहों द्रव्योंमेंसे एक कालके विना शेष पांच आत्मज्ञानने चाहिये ॥ २३ ॥

व्याख्या । “एवं छम्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो द्रव्यं उत्तं” एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पंच भेदमिदं जीवाजीवभेदतः सदाशास्त्रव्यमुक्तं कथितं प्रतिपादितम् । “कालविजुत्तं णादद्या पंच अत्थिकाया दु” तदेव पञ्चविधं द्रव्यं कालेन विजुक्तं रहितं ज्ञातव्याः पश्चात्तिकायान् पुनर्गति ॥

व्याख्यानार्थः—“एवं छम्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो द्रव्यं उत्तं” ऐसे पूर्वोक्त प्रकारमें जीव तथा अजीवके भेदमें यह द्रव्य छह प्रकारका कहा गया । “कालविजुत्तं

।।द्व्या पांच अत्थिकाया दु” और कालरहित वही उह प्रकारका द्रव्य अर्थात् कालके
ना शेष पांच द्रव्योंको पांच अस्तिकाय समझना चाहिये ॥ २३ ॥

पश्चेति संख्या शाता तावदिदानीमस्तित्वं कायत्वं च निरूपयति ।

अब अस्तिकायसंबन्धिनी पांच यह संख्या तो जानी हुई है ही, इसलिये अस्तित्व तथा
।।यत्त्वका निरूपण करते हैं ।

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा ।

काया इव बहुदेसा तह्माया काय अत्थिकाया च ॥ २४ ॥

गाथाभावार्थः—पूर्वाक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पांचों द्रव्य
विद्यमान हैं इसलिये जिनेश्वर इनको ‘अस्ति’ (है) ऐसा कहते हैं और ये कायके समान बहु
देशोंको धारण करते हैं इसलिये इनको ‘काय’ कहते हैं । अस्ति तथा काय दोनोंको
जैसे ये पांचों ‘अस्तिकाय’ होते हैं ॥ २४ ॥

।।ख्या । “संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा” सन्ति विद्यन्तं यत् एते जीवा-
पर्यन्ताः पञ्च तेन कारणेनैवेऽस्तीति भणन्ति जिणवराः सर्वज्ञाः । “जह्मा काया
इव बहुदेसा तह्मा काया च” यस्मात्काया इव बहुप्रदेशात्मत्कारणात्कायाश्च भणंति
। “अत्थिकाया च” एवं न केवलं पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञासथैव
युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति किन्तुभयमेलापकेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति ॥ इदानीं
नैवकारणमयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति । तथाहि शुद्धजीवास्तिकाये सिद्धत्वं
न कर्तुं शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वाद्यः
विशेषगुणाश्च । तथैवाव्यापधानन्तमुत्पाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयमारस्वीत्याशो
विवावर्तितपरमस्वास्थ्यरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्म-
न भौव्यमित्युक्तलक्षणैर्गुणपर्यायैकत्वादव्ययप्रौढ्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञालक्षण-
पेनादिभेदेऽपि सत्कारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो नास्ति । कस्मादिति चेन्—मुक्तात्मस-
। गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययप्रौढ्याणां चास्तित्वं सिद्धयति, गुणपर्यायोत्पादव्ययप्रौढ्यस-
। मुक्तात्मस्तित्वं सिद्धयतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति । कायत्वं कथ्यते—बहुप्र-
। यामचर्यं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमि-
। संख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचर्यं समूहं संपातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं भण्यते ।
। तथा शुद्धगुणपर्यायोत्पादव्ययप्रौढ्यैः सह मुक्तात्मनः सत्कारूपेण निश्चयेनभेदो दर्शितस्या
। यथासंभवं संसारिजीवेषु पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु च द्रष्टव्यः । कालद्रव्यं विहाय कायत्वं
। ति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थः—“संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा” जीवसे आदि लेके
।।काश पर्यन्त ये पूर्वाक्त पांच द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये सर्वज्ञ देव इनको “अस्ति”
।। है) ऐसा कहते हैं । “जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया च” और काय अर्थात्

अनन्त करने हैं वह तो अग्रिम मायाकी एक भूमिका है, और किम द्रव्यके कितने जगत् है वह दूसरी भूमिका प्रतिपादन करती है ।

ह्येति असंख्या जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।

मुक्ते तिविद् पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ २५ ॥

गाथाभाषार्थः—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं और आकाशमें अनन्त हैं। मूर्त्त (पुद्गल)में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और कालके एकही जगत् है इत्यन्वये काल काय नहीं है ॥ २५ ॥

व्याख्या । “ह्येति असंख्या जीवे धम्माधम्मे” भवन्ति लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशाः प्रदी-
दुपसंदारविन्नारमुक्तेऽप्येकजीवे, नित्यं स्वभाववित्स्तीर्णयोर्धर्माधर्मयोरपि । “अणंत आ-
से” अनन्तप्रदेशा आकासे भवन्ति । “मुक्ते तिविद् पदेसा” मूर्त्तं पुद्गलद्रव्ये संख्याता-
व्याप्तानन्तानूर्नां पिण्डाः स्कन्धाश्च एव त्रिविधाः प्रदेशा भण्यन्ते न च क्षेत्रप्रदेशाः ।
नात् पुद्गलस्यानन्तप्रदेशाभेदेऽवस्थानाभावादिति । “कालस्सेगो” कालानुद्रव्यस्यैक एव
साः । “ण तेण सो काओ” तेन कारणेन स कायो न भवति । कायस्यैकप्रदेशत्वविषये
ते प्रदर्शयति । तथा—किञ्चिद्गुणपरमशरीरप्रमाणम् सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतं
ज्ञातमद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव । यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारि-
कद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समपरूपस्य कालपर्यायस्य विभागो-
दानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति । अथवा मन्दगत्या गच्छतः पुद्गलपरमाणो-
काशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति ततो ज्ञायते तद्रव्येकप्रदे-
शेव । किञ्चिदाह—पुद्गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारणं धर्मद्रव्यं तिष्ठति, कालस्य किमायातम् ।
इं वक्ष्ये—धर्मद्रव्ये गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्यानां जलवन्मनुष्याणां शक-
रोहणादिघटसहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्तीति । अथ मत्तं कालद्रव्यं पुद्गलानां गति-
कारिकारणं कुत्र भणितमान्ते । तदुच्यते । “पुग्गलकारण जीवा रंधा सल्लु काल कारणदु”
मुक्तं श्रीबुन्दबुन्दपाचार्यदेवैः पञ्चान्त्रिकायप्राभृते । अन्वयार्थः कथ्यते । धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि
वानां कर्मनोक्तमपुद्गला गतेः सहकारिकारणं भवन्ति, अणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां तु काल-
व्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

व्याख्यानार्थः—“ह्येति असंख्या जीवे धम्माधम्मे” प्रदीपके समान संकोच तथा
सारसे युक्त एक जीवमें भी और सत्रा स्वभावसे विन्नारको प्राप्त हुए धर्म तथा अधर्म
न दोनों द्रव्योंमें भी लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं । “अणंत आयासे”
आकाशमें अनन्त प्रदेश होते हैं । “मुक्ते तिविद् पदेसा” मूर्त्त अर्थात् पुद्गल द्रव्यमें जो
ख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके पिण्ड अर्थात् स्कन्ध है वे ही तीन प्रकारके
देश कहे जाते हैं, न कि क्षेत्ररूप प्रदेश तीनप्रकारके हैं । क्योंकि, पुद्गलके अनन्त प्रदेश
अर्थमें स्थितिका अभाव है । “कालस्सेगो” कालद्रव्यका एकही प्रदेश है । “ण तेण सो

२५॥ हनुसे अर्थात् एक प्रदेशी होनेमें वह कालद्रव्यकाय नहीं है। अब एक प्रदेशी होनेमें युक्ति कहते हैं। जैसे—अन्तिम शरीरमें किंचित् न्यून प्रमाणके सिद्धत्व पर्यायका उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्मा द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्यायके ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायोंका उपादान कारणभूत जो संश्लेष द्रव्य है वह उस मनुष्य, देव आदि पर्यायोंके प्रमाण ही है, उसी प्रकार कालद्रव्य समयरूप जो कालका पर्याय है उसका विभागसे उपादान कारण है तथा प्रदेश प्रदेश ही होता है। अथवा मन्द्र गतिसे गमन करते हुए पुत्रल परमाणुके एक प्रदेश पर्यन्त ही कालद्रव्य गतिको सहकारी कारण होता है, इस कारण जाना जाता कि वह काल द्रव्य भी एक ही प्रदेशका धारक है। अब यहां कोई कहता है कि पुत्र परमाणुकी गतिमें सहकारी कारण तो धर्म द्रव्य विद्यमान है ही, इसमें कालद्रव्यका प्रयोजन है?। सो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि, धर्म द्रव्यके विद्यमान रहने में गतिमें जलके समान तथा मनुष्योंकी गतिमें गाड़ीपर बैठना आदिके समान पुत्रल गतिमें बहुतसे भी सहकारी कारण होते हैं। अब कदाचित् कहो कि “कालद्रव्य जीवोंकी गतिमें सहकारी कारण है” यह कहाँ कहा हुआ है? सो कहते हैं। श्रीकुन्दकुन्द का देवने पंचास्तिकाय नामक प्राम्भृतमें “पुग्गल कारण जीवा स्वंचा खलु काल कारण एसा कहा है। इसका अर्थ कहते हैं कि धर्म द्रव्यके विद्यमान होते भी जीवोंकी गतिमें कर्म, नोकर्म पुत्रल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदोंमें प्रकाश प्राप्त हुए पुत्रलोंके गमनमें कालद्रव्य सहकारी कारण होता है। यह गाथाका अर्थकप्रदेशस्यापि पुत्रलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति।

अब पुत्रल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तथापि उपचारसे उसको काय कहते हैं एक उपदेश करते हैं।

एयपदेशो वि अणू णाणाग्वंधप्पदेशदो होदि ।

गाथाभावार्थः—एक प्रदेशका धारक भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुत प्रदेशोंके बहु प्रदेशी होता है इस कारण सर्वत्र देव उपचारसे पुत्रल परमाणुको काय कहते हैं। २६ ॥

व्याख्या—“एयपदेशो वि अणू णाणाग्वंधप्पदेशो होदि बहुदेशो” एकप्रदेशोऽपि पुत्रल परमाणुना नास्करूपबहुप्रदेशतः सकाशाद्बहुप्रदेशो भवति । “उचयारा” उपचाराद् अत्र हारनयान् “तेण य काओ भणंति सच्चण्डु” नेन कारणेन कायमिति सर्वथा मणन्तीति । तथाहि—यथायं परमाण्ना शुद्धमिध्वयनेन द्रव्यरूपेण शुद्धमथैकोऽप्यनादिभिः । अथरूपस्थानीयरागद्वेषाभ्यां परिणम्य नरनारकादिभिः ।

वदति । तथा पुद्गलपरमाणुपरि स्वभावेनैकोऽपि सुप्तोऽपि रागद्वेषभ्यानीयबन्धयोग्यास्त्रिगु-
 ष्णगुणान्तां परिलम्प्य अणुकादिस्फन्धरूपविभावपर्यायैवंदुर्विधो बहुप्रदेशो भवति तेन
 रागोऽनं बहुप्रदेशात्तत्राद्यकारणत्वाद्युपचारेण कायो भवति । अथ सने-यथा—पुद्गल-
 परमाणोर्द्रव्यरूपैकस्यापि अणुकादिस्फन्धपर्यायत्वेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा
 आलानोरपि इत्येवैकस्यापि पर्यायेण वरयत्वं भवतीति । तत्र परिहारः—स्निग्धरुग्भेदुक्तस्य
 स्फन्धस्याभावात् भवति । तदपि ज्ञानान् । स्निग्धरुग्भत्वं पुद्गलस्वैव धर्मो यतः कारणादिति ।
 अणु सं पुद्गलसंज्ञा, आलान्याणुसंज्ञा कथमिति चेत् तत्रोक्तम्—अणुसत्त्वेन व्यवहारेण पुद्गला-
 इत्यन्ते निश्चयेन तु वर्णोद्दिगुणानां पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुवृत्त्या पुनराणुसत्त्वं
 वृत्तवाचकः । तत्रापा परमेण प्रकरोणाणुः अणुकोऽर्थः भूयस् इति व्युत्पत्त्या परमाणुः । स च
 वृत्तवाचकोऽणुसत्त्वो निर्विभागपुद्गलविबन्धायां पुद्गलाणुं वदति । अविभागकालद्रव्यवि-
 बन्धनां तु कालाणुं वदयतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यानार्थः—“एवंप्रैमो वि अणु णाणारोपपदेसदो होदि बहुदेशो” यद्यपि
 पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है तथापि नानामकारके व्यणुक आदि स्फन्धरूप बहुत प्रदे-
 शोके कारण बहु प्रदेशी होता है । “उवपारा” उपचार अर्थात् व्यवहार नपसे । “तेण प
 काभो भणंति सत्त्वएह” इसी हेतुसे सर्वज्ञ जिन देव उसको (पुद्गल परमाणुको) काय
 कहते हैं । सोही पुष्ट करते हैं कि जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनपसे द्रव्यरूपसे शुद्ध
 तथा एक है तथापि अनादिकर्मबन्धनके बन्धसे स्निग्ध तथा रूक्ष गुणोंके स्थानापन्न
 (एवज) जो राग और द्वेष हैं उनसे परिणामको प्राप्त होकर, व्यवहारनपके द्वारा मनुष्य,
 नारक आदि विभाव पर्यायरूपमें अनेक प्रकारका होता है; ऐसे ही पुद्गल परमाणु भी
 यद्यपि स्वभावसे एक और शुद्ध है तथापि राग द्वेषके स्थानभूत जो बंधके योग्य स्निग्ध,
 रूक्ष गुण हैं उनमें परिणमनको प्राप्त होके व्यणुक आदि स्फन्धरूप जो विभाव पर्याय हैं
 उनमें अनेक प्रदेशोंका धारक होता है । इसी हेतुसे बहु प्रदेशात्कारूप कायत्वके कारणसे
 पुद्गल परमाणुको सर्वज्ञ देव उपचारसे काय कहते हैं । अब यहांपर यदि ऐसा किसीका
 मत हो कि जैसे द्रव्यरूपमें एक भी पुद्गल परमाणुके व्यणुक आदि स्फन्ध पर्यायरूपसे
 बहु प्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है ऐसेही द्रव्यरूपमें एक होनेपर भी कालाणुके समय,
 घटिका आदि पर्यायोंसे कायत्व सिद्ध होता है । इस संकाका परिहार करते हैं कि स्निग्ध
 रूक्ष गुण हैं कारण जिसमें ऐसे बंधका कालद्रव्यमें अभाव है इस कारण वह काय नहीं हो
 सकता । सो भी क्यों ! कि स्निग्ध तथा रूक्षपना जो है सो पुद्गलका ही धर्म है इसलिये
 कालमें स्निग्ध रूक्षत्व हैं नहीं और उनके बिना बंध नहीं होता और बंधके बिना कालमें
 कायत्व नहीं सिद्ध होता । कदाचित् फहो कि अणु यह पुद्गलकी संज्ञा है । कालका अणु
 सज्ञा केमे हुई तो इसका उत्तर मुनो—“अणु” इस शब्दसे व्यवहारमें पुद्गल कहे जाते हैं
 और निश्चयमें तो वर्ण आदि गुणोंके पूरण तथा गलनके मवधसे पुद्गल कहे जाते हैं;

और यथार्थमें तो अणु शब्द सूक्ष्मका वाचक है जैसे पद्म प्रयत्न महर्षि (अर्थात्) जो अणु हो सो परमाणु है। इस श्रुत्यागिभे परमाणु शब्द जो है वह अग्नि सूत्र कहनेवाला है। और वह सूत्र वाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गलादि विभागों है; अणुको कहता है और अविभागी (विभागरहित) कालद्रव्यके कहनेकी तब है तब कालाणुको कहता है ॥ २६ ॥

अथ प्रदेशलक्षणमुपलभयति ।
अथ प्रदेशका लक्षण दिशते है ।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्टं ।
तंस्तु पदेसं जाणे सञ्चाणुद्वाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

गाथाभावार्थः—जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु उट्टं तं तु पदेसं जानो ॥ २७ ॥
परमाणुओंको स्थान देनेमें समर्थ प्रदेश जानो ॥ २७ ॥

व्याख्या । “जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्टं तं तु पदेसं जानो” इत्यप्रमाणमाकाशमविभागीपुद्गलपरमाणुना विष्टञ्चं व्याप्तं वदाकाशं तु सुट्टं प्रदेशं जनेदं शिष्य । कथंभूतं “सञ्चाणुद्वाणदाणरिहं” सञ्चाणुनां मवंपरमाणुनां सूक्ष्मस्त्वानां दानस्यावकाशदानस्यार्थे योग्यं समर्थमिति । यत् एतेत्यंभूतावगाहनशक्तिरस्याकाशे एवासंख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाशं तथा चोक्तं जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम् “एगणिगोदमरीरे जीवाद्भवन् दिट्टा । सिद्धेहि अणंतगुणा सञ्चेषु वितीदकालेण ॥ १ ॥ उगाढगाढगिषिदो पुग्गलदि सच्चदो लोगो । सुट्टं हि वादरे हि य णंताणंतदि विविहेदि । २ ।” अथ मत्तं सूत्रेणानां भेदो भवतु नास्ति विरोधः । अमूर्त्ताखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथं विभागकल्पनेति । रागाशुभाधिरहितस्वसंवेदनप्रत्यक्षभावनेत्यत्रमुखाभूतसाम्यादत्रुत्तम्य मुनियुगलस्यावकाशं प्रमेकमनेकं वा । यद्येकं तर्हि द्वयोरेकत्वं प्राप्नोति न च तथा । भिन्नं चेत्तदा निर्विभागरहितस्यापि विभागकल्पनमायातं घटाकाशपटाकाशमित्यादिवदिति ॥ २७ ॥ एवं सूत्रार्थोऽस्ति श्रीनेमिचन्द्रसंज्ञान्तदेवविरचिते द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थे नमस्कारादिसप्तविंशति-गाथाभिगन्तराधिकारत्रयसमुदायेन पद्मद्रव्यपञ्चालिकायप्रतिपादक-नामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

व्याख्यार्थः—“जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्टं तं तु पदेसं जानो” हे शिष्य । जितना आकाश विभागरहित पुद्गलपरमाणुमे व्याप्त है उमको रूपसे प्रदेश जानो । वह प्रदेश कैसा है कि “सञ्चाणुद्वाणदाणरिहं” सब परमाणु हैं सूक्ष्म स्वन्योको अवकाश (स्थान) देनेके लिये समर्थ हैं । इस प्रकारकी अवगाहन ही जो आकाशमें है हमी हेतुमें अमंश्यान्त प्रदेश प्रमाण लोकाकाशमें

जीवोंमें भी अनन्त गुणों पुद्गल अवकाशको प्राप्त होने हैं । शोदी जीव तथा पुद्गलके लिये हमें अवकाश देनेका सामर्थ्य आगममें कहा है । “ एक निगोद शरीरमें द्रव्य-ज्येते सब भूतकाटके गिद्धोंमें अनंत गुणों जीव दृष्ट हैं । १ । यह लोक सब तरफसे बंध तथा अनन्तानन्त गूढम और बादर पुद्गलकायोंद्वारा अतिसंपन्नताके साथ भरा हुआ । २ । ” अब ब्रह्मचिन् ऐमा मन तो कि “ नृनिमान् पुद्गल्लोका तो अणु तथा द्यणुक न्य आदि विभाग हो, इसमें कुछ विरोध नहीं है; परन्तु अखंड तथा अगूर्ध आकाशकी विभाग करपना कैसे तो सकती है! ” सो नहीं । क्योंकि, राग आदि उपाधियोंसे त निद्र आत्मज्ञानकी प्रत्यक्ष भादनामें उत्पन्न जो सुस्वरूप अमृतरस है उसके आत्मा-में हम ऐसे गुणियुगल (दो गुणियों) के रहनेका स्थान एक है अथवा अनेक ! यदि तीसरा निवासलेश एवही है तब तो दोनोंकी एकता हुई; परन्तु ऐसा नहीं है । और अभिन्न मानो तो पटके आकाश तथा पटके आकाशकी तरह विभागरहित द्रव्यकी विभागकल्पना गिद्ध हुई ॥ २७ ॥ ऐसे पांच सूत्रोंद्वारा षंच अस्तिकायोंका निरूपण करने-वा गृहीत अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥

इति धीनेमिषन्द्रसैदान्तिदेवविरचितद्रव्यसंग्रहस्य धीमत्सदेवनिर्मितसंस्कृतटीकायाः

जयपुरनिवासिशाम्बीत्युपाधिधारकश्रीजवाहरलालदि० जैनप्रणीतभाषा-

मुवादे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधिकारश्रयसमु-

दायेन षट्द्रव्यपञ्चान्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽन्त-

राधिकारः समाप्तः ।

अतः परं पूर्वोक्तषट्द्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तरव्याख्यानं क्रियते । तथा—

अब इसके पश्चात् षट्द्रव्योंकी चूलिका (परिशिष्ट अथवा उपसंहार) रूपसे विशेष व्याख्यान करते हैं । सो इस प्रकार है—

गाथा । परिणामि-जीव-मुक्तं, सपदेसं एय-स्वेत्त-किरियाय ।

णिषं कारण-कत्ता, सव्यगदमिदरं हि यपयेसे ॥ १ ॥

दुष्णिष्य एयं एयं, पंच-त्तिय एय दुष्णिण चउरो य ।

पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तरं णयं ॥ युग्मम् ॥ २ ॥

गाथाभाषार्थः—पूर्वोक्त षट् द्रव्योंमेंसे परिणामी द्रव्य जीव और पुद्गल ये दो हैं. चेतन

(१) यह गाथा यद्वि संस्कृतटीकाकी प्रतिबन्धि नहीं है, तथापि टीकाकारने इसका आशय ग्रहण किया है जयसंस्कृतजीवन द्रव्यसंग्रहकी बंधनिका तथा मूल मुद्रित पुस्तकमें उपलब्ध होती है, अतः उपरोक्ती त्वर, यहाँ लिख दी गई है । (२) ये दोनों गाथार्थ अन्य प्रणवकी हैं इसलिये इनमें मूलकमप्राप्तसंख्या लगाई गई है ।

प्राण्यपेक्षया धर्माधर्मौ च । जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं, राजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति, पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहारकन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषलापेक्षया सर्वगतं न भवति, कालद्रव्यं पुनरेककालापुद्गव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, रूपदेशप्रमाणनानाकालापुर्विवक्षया लोके सर्वगतं भवति । “इदं हि यपवेसे” यद्यपि पुद्गव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति ॥ अत्र पद्द्रव्येषु मध्ये वीतरागपिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभात्मनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥

व्याख्यानार्थः—“परिणामि” इत्यादि गायत्र्या व्याख्यान करते हैं—स्वभाव तथा विभाव त्रयोकरके परिणामसे परिणामी जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं । और शेष (बाकीके) चार द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य विभावव्यंजनपर्यायके भावसे मुख्यतासे अपरिणामी हैं । “जीव” शुद्ध निश्चयनयसे निर्मल ज्ञान तथा दर्शन भावका धारक जो शुद्ध चैतन्य है उसीको प्राण शब्दसे कहते हैं, उस शुद्ध चैतन्यरूपणसे जो जीवता है वह जीव है; और व्यवहारनयसे कर्मोंके उदयसे उत्पन्न द्रव्य तथा त्व रूप चार प्रकारके जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण हैं; उनमें जीवता है, जीवैगा और पूर्वकालमें जीता था वह जीव है । सो एक है । और पुद्गल आदि चार द्रव्य जो हैं वे तो अजीव रूप हैं । “मूर्च्छं” अमूर्च्छ जो शुद्ध आत्मा है उससे विलक्षण स्पर्श, रस, गंध तथा घर्षणवाली जो है उसको मूर्त्ति कहते हैं उस मूर्त्तिके सद्भावसे अर्थात् उस मूर्त्तिका धारक होनेसे पुद्गल द्रव्य मूर्च्छ है, और जीव द्रव्य यद्यपि अनुपचरित असद्गतव्यवहारनयसे मूर्च्छ है तथापि शुद्ध निश्चयनयसे अमूर्च्छ है; तथा धर्म, अधर्म आकाश और कालद्रव्य अमूर्च्छ हैं । “सपदेशं” लोकाकाशगात्रके प्रमाण अर्थात्प्रायः देशोंको धारण करना है लक्षण जिसका ऐसे जीव द्रव्यको आदि लेके पंचान्त्रिकाय नामके धारक जो पांच द्रव्य हैं वे सपदेश (प्रदेशरहित) हैं, और बहुपदेशपना है लक्षण जिसका ऐसा जो फायत्व उसके न होनेसे कालद्रव्य अपदेश है । “एयं” द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं और जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं । “स्वैच्छं” सब द्रव्योंको अवकाश (स्थान) देनेका सामर्थ्य होनेसे क्षेत्रक आकाश द्रव्य है और शेष पांच द्रव्य क्षेत्र नहीं है । “किरियायं” एक क्षेत्रसे सरे क्षेत्रमें गमन रूप अर्थात् दिलनेवाली अथवा चलनेवाली जो है वह क्रिया है, वह क्रिया जिनमें रहै वे क्रियावान् जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य क्रियासे रह्य हैं । “गिच्छं” धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्धपर्यायतासे अनित्य है तथापि मुख्यवृत्तिते इनमें विभावव्यंजन पर्याय नहीं हैं इसलिये ये नित्य हैं; और द्रव्यार्थिक नयसे जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य हैं तथापि अशुद्धपुपरिणाम रूप जो स्वभाव पर्याय है

मन्त्रादीरूपमन्त्रादिबन्धजातसिद्धपरमममाधिकाले सिद्धमहताः मनुदात्तमैशोपादेयः
 पदप्रत्ययैक्यमात्र इति बोध्यः । मिथ्यालरागादिसमन्-
 त्मावाहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते केवलज्ञानानन्तगुणमदितरत्वादुक्तः । इति शुद्धपुद्गैकलक्षणं
 विप्र लक्षणम् । इति पदप्रत्ययपृष्ठिका समाप्ता । चूलिकासम्प्रदायः कथ्यते-चूलिका विशेष-
 व्याख्यानम्, अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति ॥

अब हमके उपरान्त फिर भी यह द्रव्योपेक्षे क्या देय है और क्या उपादेय है इस
 रूपको विशेष रीतिसे विचारते हैं । उनमें शुद्ध निश्चयनयसे वाक्शिरूपमे शुद्ध, बुद्ध
 रूपाकारके धारक सभी जीव हैं इस कारण सर्व जीवही उपादेय (मात्र) हैं । और
 वाक्शिरूपमे अहंत्, मिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांच परमेष्ठी ही उपादेय हैं ।
 इन पांचोमेंमे भी अहंत्-मिद्ध ये दो ही उपादेय हैं । इन दोमेंसे भी निश्चयकी अपेक्षासे
 मिद्ध ही उपादेय है और परम-निश्चयसे भोगोकी अभिलाषा आदि रूप जो संपूर्ण विक-
 ल्पोंके समूह हैं उनमे रहित जो परमध्यानका समय है उस समयमें सिद्धोंके समान जो
 निज शुद्ध आत्मा है; वही उपादेय है । अन्य सब द्रव्य हेय हैं । यह तार्क्य है । अब
 'शुद्धपुद्गैक्यमात्र' इस पदका क्या अर्थ हैमो कहते हैं—मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण विभावोसे
 रहित होनेके कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है । तथा केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंसे
 सहित होनेमे आत्मा शुद्ध कहा जाता है । इस प्रकार जहां जहां 'शुद्धपुद्गैक्यमात्र' यह पद
 आंवे वहां वहां सर्वत्र यही पूर्वोक्त लक्षण समझना चाहिये । इस रीतिसे पदद्रव्योकी
 चूलिका समाप्त हुई । अब 'चूलिका' इस शब्दका अर्थ कहते हैं । "चूलिका" किसी
 पदार्थके विशेष व्याख्यानको अथवा उक्त (कहे हुए) विषयमें जो अनुक्त (नहीं कहा
 हुआ) है उसके व्याख्यानको तथा उक्त तथा अनुक्तसे मिला हुआ जो कथन है उसको
 कहते हैं ॥

अतः परं जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामाद्यवादिसप्तपदार्थानामेकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं
 करोति । तत्राद्या "आसवबंधन" इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमाद्यवपदार्थव्याख्यान-
 रूपेण "आसवदि जेण" इत्यादि गाथात्रयं, ततःपरं बन्धव्याख्यानकथनेन "बन्धादि कम्म" इति
 प्रभृतिगाथाद्वयं, ततोऽपि संबन्धकथनरूपेण "वेदणपरिणामो" इत्यादिसूत्रद्वयं, ततश्च निर्ज-
 राप्रतिपादनरूपेण "जह्वालेण तवेण य" इति प्रभृतिसूत्रमेकं, तदनन्तरं मोक्षस्वरूपकथनेन
 "सत्त्वस्स कम्मजो" इत्यादि सूत्रमेकं, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन "सुहासुह" इत्यादि सूत्र-
 मेकं चेत्येकादशगाथाभिः स्पष्टसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपाठनिका ।

अब इस चूलिकाके पश्चात् जीव और पुद्गल द्रव्यके पर्याय रूप जो आसव
 आदि सप्त ७ पदार्थ हैं उनका एकादश ११ गाथाओद्वारा इस द्वितीय अधिकारमें
 व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम "आसवबंधन" इत्यादि २८ वीं एक गाथा अधिकार
 सूत्ररूप है और उसके अनन्तर आसवपदार्थके व्याख्यानरूपसे "आसवदि जेण" इत्यादि

गता है। वह बहिरात्मा आसव, बंध और पाप इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है; किसी समय जब कपाय और मिथ्यात्वका उदय मंद होता है तब भोगोंकी अभिलाषा रूप निदानके बंधसे पापसे संबध रखनेवाले पुण्यपदार्थका भी कर्त्ता होता है। तथा पूर्वोक्त बहिरात्मासे विपरीत लक्षणका धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है, और यह सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय राग दे विभावोंसे रहित जो परम सामायिक है उसमें स्थित रहनेको समर्थ नहीं होता है समय विषयकपायोसे उत्पन्न जो दुर्ध्यान उसके बंधनार्थ अर्थात् न होनेके लिये संसारकी तिका नाश करता हुआ पुण्यसे संबध रखनेवाला जो तीर्थंकर नाम प्रकृति आदि विदिष्ट पदार्थ है उसका कर्त्ता होता है। अब कर्तृत्वके विषयमें नयोंके विभागका निरूपण है। मिथ्यादृष्टि जीवके जो पुद्गल द्रव्यपर्याय रूप आसव, बंध तथा पुण्य, पाप पदार्थ कर्त्तापना है सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे है और जीव भाव (व मनुष्य,) आदिपर्याय रूप पदार्थोंका कर्तृत्व शुद्ध निश्चयनयसे है। तथा सम्यग्दृष्टि जीव जो द्रव्यरूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थका कर्त्ता है; सो भी अनुपचरित अम- व्यवहार नयसे ही है। तथा जीव भावपर्याय रूपोंका जो कर्त्ता है सो विवक्षित एक देश निश्चय नयसे है। और परम शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे तो "जो परमार्थ दृष्टिसे तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध तथा मोक्षको करता है, इस र श्रीजिनेन्द्र कहते हैं" इन बचनमें जीवके बंध और मोक्षही नहीं है। इसलिये विव- केदेश शुद्ध निश्चयनयसे ही जीवभावपर्यायोंका जीवको कर्तृत्व है। अब आगमभाषासे कहते हैं सो दर्शाते हैं—निज शुद्ध आत्माके सम्यक् अदान, ज्ञान तथा आचरण से जो होगा उसे भव्य कहते हैं, इस प्रकारका जो भव्यत्व संज्ञाका धारक जीव है के पारिणामिक भावसे संबध रखनेवाली व्यक्ति कही जाती है अर्थात् भव्यके पारिणा- मािक भावकी व्यक्ति (प्रकटता) है। और अध्यात्मभाषासे द्रव्यशक्ति रूप जो शुद्ध है उसके विषयमें भावना कहते हैं। अन्य नामोंसे इसी द्रव्य शक्ति रूप रणामिक भावकी भावनाको निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि करते हैं। रना मुक्तिका कारण है। इसी कारण जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्येय (ध्यान ने योग्य) रूप होता है और ध्यानरूप नहीं होता। ऐसा क्यों होता है यह पूछो तो यह है कि ध्यानभावना पर्याय है सो तो विनाशका धारक है और ध्येयभावना य द्रव्यरूप होनेमें विनाशरहित है। तात्पर्य यहांपर यह है कि मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पोंक समूह है उनसे रहित जो निजशुद्ध आत्मा उसकी ल सहज वभावमें उत्पन्न) आनन्द रूप एक मुम्बके ज्ञानको ल गवना है

वही मुक्तिका कारण है। उसी भावनाको कोई पुरुष किसी (निर्विकल्प पञ्च, शुद्धोपयोग आदि रूप) अन्य नामके द्वारा कहता है ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे अनेकान्त (स्याद्वाद) का आश्रय कर, कथन करनेसे अल्प, बंध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग परिणामरूप जो विन्त पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं। और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग रूप परिणामके विनाशसे उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उन्से उत्पन्न होते हैं, यह निश्चित हुआ ॥

तथा—

अथ पूर्वोक्त पदार्थोंका निरूपण करते हैं, सो इस प्रकार है—

आसव यंधण संवर णिञ्जर मो (सु) क्खो सपुण्णपावाजे ।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

शाखाभाषार्थः—अथ जो आसव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात जीव, अजीवके भेदरूप पदार्थ हैं; इनको भी संक्षेपसे कहते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या । “आसव” निरास्रवस्वसंविच्चिविलक्षणशुभाशुमपरिणामेन शुभाशुमकर्मोपनि-
मास्रवः । “यंधण” बन्धातीतशुद्धात्मोपलम्भभावनाच्छुतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो
बन्धः । “संवर” कर्मोपनिरोधसामर्थ्यसंविच्चिपरिणतजीवस्य शुभाशुमकर्मोपनिरोधसंवरः ।
“णिञ्जर” शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीभूतकर्मपुद्गलानामेकदेशगलनं निर्ज-
रा । “मोक्षो” जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य विघटने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष
इति । “सपुण्णपावा जे” पुण्यपापसहिता ये “ते वि समासेण पभणामो” यथा जीव-
जीवपदार्थो व्याख्यातौ पूर्व तथा तानप्याग्नवादिपदार्थान् समासेन संक्षेपेण प्रभणामो वचं
ते च कथंभूताः “जीवाजीवविसेसा” जीवाजीवविशेषाः । विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः पर्यायाः ।
पैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्वैत्यर्थः ॥ एवमधि-
कारमूत्रगाथा गता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थः—“आसव” आस्रवसे रहित जो निज आत्माका ज्ञान है उससे विरक्त
जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है उस परिणामसे जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आगमन है
सो आस्रव है । “यंधण” बंधमें रहित जो शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्तिस्वरूप जो भावना
है उस भावनासे गिरे हुए जीवका जो कर्मके प्रदेशोंके साथ परस्पर बंध है, इसको बंध
कहते हैं । “संवर” कर्मोंके आस्रवको रोकनेमें समर्थ जो निज आत्मज्ञान है उस ज्ञानसे
परिणत जीवके जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंके आनेका निरोध है वह संवर है । “णिञ्जर”
शुद्ध उपयोगकी भावनाके बन्धमें नीरसीभूत (शक्तिहीन हुए) हुए ऐसे कर्मपुद्गलोंका जो
एकदेशमें गलन अर्थात् नाश है उसको निर्जरा कहते हैं । “मोक्षो” जीव तथा पुद्ग-

का जो परस्पर मेलन रूप बंध है उग बंधको नाश करनेमें समर्थ जो निजशुद्ध आत्माकी गतिरूप परिणाम है यह मोक्ष कहा जाता है । “सपुण्णपावा जे” पुण्य तथा पाप रहित जो “ते वि समासेण पभणामो” आसव आदि पदार्थ हैं उनको भी जैसे पहले जीव, अजीव कहे उसी प्रकार संक्षेपसे हम कहते हैं—और वे कैसे हैं कि “जीवाजीवविसेसा” जीव तथा अजीवके विशेष अर्थात् पर्याय हैं । तात्पर्य यह कि चैतन्य आसव आदि तो जीवके अशुद्ध परिणाम हैं और अचेतन जो कर्मपुद्गलोंके पर्याय हैं वे अजीवके हैं ॥ इस प्रकार आसव आदि अधिकारसूत्रकी गाथा गई (समाप्त हुई) ॥ २८ ॥

अथ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यानं क्रियते, तत्रासौ भावास्रवद्रव्यास्रवस्वरूपं सूचयति ।

अब तीन गाथाओंसे आसव पदार्थका व्याख्यान करते हैं, उसमें प्रथमही भावास्रव तथा द्रव्यास्रवकी सूचना करते हैं ।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।

भावास्रवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥

गाथाभावार्थः—जिस परिणामसे आत्माके कर्मका आस्रव होता है उसको श्रीजिनेन्द्रद्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिये । और भावास्रवसे भिन्न ज्ञानावरणादि रूप कर्मोंका जो आस्रव है सो द्रव्यास्रव होता है ॥ २९ ॥

व्याख्या । “आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावास्रवो” आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मनः स विशेषो भावास्रवः । कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म कस्यात्मनः स्वस्य स परिणामो भावास्रवो विशेषः । स च कथंभूतः “जिणुत्तो” जिनेन वीतरागसर्वज्ञोक्तः । “कम्मासवणं परो होदि” कर्मास्रवणं परो भवति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं परः, पर इति कोऽर्थः—भावास्रवादन्यो भिन्नो भावास्रवनिमित्तेन नैलमृक्षितानां धूलिसमागम इव द्रव्यास्रवो भवतीति । ननु “आस्रवति येन कर्म” तेनैव पदेन द्रव्यास्रवो लब्धः, पुनरपि कर्मास्रवणं परो भवतीति द्रव्यास्रवव्याख्यानं किमर्थमिति यदुक्तं त्वया तत्र । येन परिणामेन किं भवति आस्रवति कर्म तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शितं न च द्रव्यास्रवव्याख्यानमिति भावार्थः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थः—“आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावास्रवो” आत्माके जिस परिणामसे कर्मका आस्रव हो वह परिणाम भावास्रव है, यह जानना चाहिये । भावार्थ यह है कि कर्मास्रवके दूर करनेमें समर्थ जो शुद्ध आत्माकी भावना है उस भावनाके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) जिस परिणामसे अपने आत्माके कर्मका आस्रव होता है उस परिणामको भावास्रव जानना चाहिये । वह भावास्रव कैसा है कि “जिणुत्तो” जिन जो श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव हैं उनसे कहा हुआ है । “कम्मासवणं परो होदि” कर्मोंका जो आस्रवण है वह पर होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका जो आस्रवण (आगमन) है वह पर है । पर शब्दका अर्थ यह है कि भावास्रवसे भिन्न । भावार्थ—जैसे तेलसे चुपड़े

हुए पदार्थोंके धूलका समागम होता है उभी प्रकार भावात्मके निमित्तमे जीवके द्रव्यन होता है। अब यहां कोई शंका करते हैं कि “आसवदि जेण कम्मं” (जिममे इन्फ आसव होता है) इसी पदमे द्रव्यासवकी प्राप्ति होगई फिर “कम्मामवणं पगे होई” (इसमे मित्र कर्मासव होता है) इस पदमे द्रव्यासवका व्याख्यान किम प्रयोजनके त्रिं किया!। समाधान—यह शंका जो तुमने कही सो ठीक नहीं। क्योंकि, “जिम पणिन्ने क्या होता है कि कर्मका आसव होता है” यह जो कथन है उसमे परिणामका सन्दर्भ दिखाया गया है, द्रव्यासवका व्याख्यान नहीं किया गया। यह भावार्थ है ॥ २९ ॥

अथ भावात्मस्वरूपं विशेषण कथयति ।

अब भावात्मके स्वरूपका विगेष रीतिसे कथन करते हैं ।

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेषा ।

पण पण पणदस तिय चट्टु कमसो भेदाट्टु पुच्चस्स ॥ ३० ॥

गाथाभावार्थः—अब प्रथम जो भावात्म है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, क्रोध और क्रोध आदि कषाय ऐसे पांच भेद जानने चाहिये; और मिथ्यात्व आदिके क्रममे पांच पांच, पन्द्रह, तीन, और चार भेद समझने चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्वके पांच भेद, अविरतिके पांच भेद, प्रमादके पन्द्रह भेद, योगके तीन भेद और क्रोध आदि कषायोंके चार भेद जानने ॥ ३० ॥

व्याख्या । “मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ” मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः । अभ्यन्तरे चीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिबिषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिषमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादके च मिथ्यात्वं भवति । अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणया बहिर्विषये पुनरत्रन्तत्त्वेत्त्वविरतिः । अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणजनकश्चेति प्रमादः । निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तरागश्लोचनमोत्पन्नो मनोवचनकायवर्गणावलम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते । अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तरगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपभोभक्ताकाः बहिर्विषये तु परेषां संवन्धित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणः पञ्चास्रवाः “अथ” अथो “विण्णेषा” विज्ञेया शातव्याः । कतिभेदान्ने “पण पण पणदस तिय चट्टु कमसो भेदाट्टु” पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति पुनः । तथाहि “एयं बुद्धिरमी विवरीउ वंदातावमो विण्णो । इंदो विष संमइदो मक्काइओ चैव अण्णणी ।” इति गाथाकथितलक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम् । हिंसानृत्तमेयाप्रक्षपरिमहाकाङ्क्षारूपेणारिगर्गरि पञ्चविधा । अथवा मनःमहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिप्रवृत्त्यादिपद्मायविराधनाभेदेन द्वादशविधा । “रिइहा हइय कमाया इंदिपणिहाय मइय पणयो य । चट्टु चट्टु पणमेण हुंनि पमादाट्टु पणगरमा ।” इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादाः । मनोवचनकायव्यापारभेदेन त्रिबिधो योगः, विष्ठा

पञ्चदशभेदो वा । क्रोधमानमागान्धोभभेदेन कषायाम्रत्वारः, कषायनोकषायभेदेन पञ्चविं-
शतिरिधा वा । एते सर्वे भेदाः कस्य संवन्धिनः “पुत्परस” पूर्वमूत्रोदितभावाग्रवन्मेत्यर्थः ॥१०॥

रूपार्थः—“मिच्छाविरदिपमादजोगकोधादभो” मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,
योग तथा क्रोध आदि दृश्यमाण लक्षण तथा सत्यायुक्त भाव आसवके भेद हैं । इनमेंसे
स्मन्तंगमें जो दीनराग निज आन्ततत्त्वके अनुभवमें रचि है उसके विषयमें विपरीत अभि-
निवेश (आग्रह) का उत्पन्न करनेवाला तथा बाह्य विषयमें परसंबन्धी शुद्ध आत्मतत्त्वसे
आदि लेके, संपूर्ण द्रव्यमें जो विपरीत अर्थान् उलटें आग्रहका उत्पन्न करनेवाला है,
उसको मिथ्यात्व कहते हैं । तथा अभ्यन्तरमें निज परमात्माके स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न
जो परम स्वरूप अमृत है, उस परम सुरा में जो रति (प्रीति) है उससे विलक्षण, तथा
बाह्य विषयमें व्रत आदिका धारण न करने रूप जो है सो अविरति है । तथा अभ्यन्तरमें
प्रमादरहित जो शुद्ध आत्मा है उसके अनुभवसे चलन (डिगाने) रूप और बाह्य
विषयमें जो मूल गुण तथा उत्तर गुण है उनमें अतिचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद
है । निश्चयसे क्रियारहित परमात्माके भी जो व्यवहारसे वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे
उत्पन्न तथा मन, वचन, और काय वर्गणाको अवलम्बन करनेवाला, कर्मोंके ग्रहण करनेमें
धारणभूत आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द (संचलन) है उसको योग कहते हैं । तथा अभ्य-
न्तरमें परम उपशम मूर्तिवाला तथा केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंरूप स्वभावका धारक
जो परमात्माका स्वरूप है उसमें क्षोभको उत्पन्न करनेवाले तथा बाह्य विषयमें परके संबंधी
पनेमें क्रूरता आदिके आवेग रूप जो क्रोध आदि हैं उनको कषाय कहते हैं ॥ इस प्रकार
पूर्वोक्त लक्षणके धारक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पांच भावासव हैं । ये
“अथ” पूर्वकथनके अर्थान् २९ वीं गाथामें कहे हुए कथनके पश्चात् “विण्णेषा” जानने
चाहिये । अब इन पांच भावासवोंके कितने भेद हैं सो कहते हैं—“पण पण पणदस-
निय चट्टु कमसो भेदादु” और उन मिथ्यात्व आदिके क्रमसे पांच, पांच, पन्द्रह, तीन
और चार भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—“एकान्त बुद्धिदर्शक (एकान्त) मिथ्यात्व, विप-
रीताभिनिवेश (विपरीत) मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशयित (संशय) मिथ्यात्व
तथा अज्ञानमिथ्यात्व” ऐसे गाथामें कहे हुए लक्षणोंका धारक पांच प्रकारका मिथ्यात्व है ।
हिंसा, असत्य, चोरी, अन्न और परिग्रहमें इच्छारूप अविरति भी पांच प्रकारकी है, अथवा
यही अविरति मन और पांचों इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप ६ भेद तथा छेकायके जीवोंकी
विराधनारूप ६ भेद ऐसे दोनोंके मिलानसे बारह प्रकारकी भी है । “चार विकथा, चार
कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं ॥ १ ॥” इस गाथा-
कथित क्रमसे प्रमाद पन्द्रह हैं । मनोव्यापार, वचनव्यापार और कायव्यापार इन भेदोंसे
योग तीन प्रकारका है, अथवा विस्तारसे १५ प्रकारका है । क्रोध, मान, माया तथा लोभ

५८ संख्या प्रमाण जो उपरमकृतिये हैं उनके भेदोंसे तथा असंख्यात लोक प्रमाण जो विधी वाय नाम कर्म आदि उपरोचर मकृतिभेद है उनसे अनेक प्रकारका है । “जिण-खादौ” यह द्रव्यासयथा सूत्र श्रीजिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है । इस प्रकार गाथाका अर्थ है ॥ ३१ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसवके व्याख्यानकी तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ । अतःपरं सूत्रद्वयेन बन्धव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भावबन्धमुत्तरार्धेन तु व्यवन्धपररूपमावेदयति ।

अब इसके आगे दो गाथासूत्रोंसे बंध पदार्थका व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम भाषाके पूर्वार्धसे भावबंध और उत्तरार्धसे द्रव्यबंधके स्वरूपका उपदेश करते हैं ।

वज्रहृदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥

गाथाभावार्थः—जिस चेतनभावसे कर्म बंधता है वह तो भावबंध है, और कर्म तथा आत्माके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्माके प्रदेशोंका एककार होने से दूसरा द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

व्याख्या । “वज्रहृदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो” अर्थात् कर्म येन चेतनभा-
व न भावबन्धो भवति । समस्तकर्मबन्धविष्वंसनसमर्योरण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचै-
न्यविलासलक्षणज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा संबन्धिनी
। तु निर्मलानुभूतिस्तद्विषयभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽऽशुद्धचेतनभावेन परि-
णमैतं कथ्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते । “कम्मादपदेसाणं अण्णो-
णपवेसणं इदरो” कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः । तेनैव भावबन्धनिमित्तेन कर्म-
देशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनौरवद्वयोन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्ध इति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थः—“वज्रहृदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो” जिस चेतनके
वसे कर्म बंधता है; वह भावबंध है; अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके बंधको नष्ट करनेमें समर्थ तथा
खण्ड (पूर्ण) एक प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप जो परम चैतन्य विलास लक्षणका धारक ज्ञान
ण है, उससे अथवा अभेदनयकी विवक्षासे अनन्त ज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत जो
रमात्मा है उससे संबंध रखनेवाली जो निर्मल अनुमृति (अनुभव) है उससे विपक्षमृत
विरोधी) अथवा मिथ्यात्व, राग आदिमें परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जो
रिणाम है उससे जो कर्म बंधता है वह भावबंध कहलाता है । “कम्मादपदेसाणं अ-
णोण्णपवेसणं इदरो” कर्म और आत्माके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेशनरूप दूसरा है,
अर्थात् उसी पूर्वोक्त भावबंधके निमित्तसे कर्मके प्रदेशोंका और आत्माके प्रदेशोंका जो दूध
या जलकी भांति एक दूसरेमें प्रवेश होना अर्थात् मिल जाना है, सो द्रव्यबंध है ॥३२॥

अथ तस्मै च वन्द्यम् गायत्र्यापूर्वमेत प्रकृतियन्धादिभेदघनुष्टयं कथयति, इत्यने
प्रकृतियन्धादीनां कारणं चेति ॥

अत्र गायत्रि पूर्वार्धमे उसी बंधके प्रकृतिबंध आदि चार भेदोंको कहे है
उत्तरार्धमे उन प्रकृतिबंध आदिके कारणका कथन करते हैं ।

पयद्विद्विदिअणुभागपदेसभेदाद् षडुचिभो बंधो ।

जोगा पयद्विपदेसा द्विदिअणुभागा कसायदो हांति ॥ ३१

गायत्र्यावार्थः—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदोंसे बंध बन
ते हैं । इनमें से प्रकृति तथा प्रदेशबंध होते हैं और कषायोंसे स्थिति तथा अनुभा
ग होते हैं ॥ ३३ ॥

उपाख्यानार्थः—“पपदिद्विद्विअणुभागपदेगभेदाद् चतुर्विधो बंधो” प्रकृति-
 १. शिष्टविबंध, अनुभागबंध, और प्रदेशबंध इन भेदोंसे बंध चार प्रकारका है । सो
 विशेषतासे दिखलाते हैं—ज्ञानावरणी कर्मकी प्रकृति (स्वभाव) क्या है इस जिज्ञासामें
 प्र पट है कि जैसे देवताको मुगयम्ब आवरण (पड़दा) आच्छादित कर लेता है
 वैसे टफ लेता है उभी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानको टफ लेता है । दर्शनावरणीकी
 प्रति क्या है ? गजाके दर्शनकी रुक्पापट जैसे द्वारपाल करता है उसी प्रकार दर्शनावरणीकी
 गंधको नहीं होने देना है । सातावेदनी और असातावेदनी नामक दो भेदोंका धारक
 वेदनी फर्म है उसकी क्या प्रकृति है ? मधु (सहत) से लिपटी हुई तलवारकी धारा
 टनेमें जैसे अल्प सुम्ब और अधिक दुःख उत्पन्न होता है, वैसेही वेदनी फर्म भी अल्पसुख
 र अधिक दुःखको देनेवाला है । मघ (मदिरा) पानके समान हेय (त्यागने योग्य),
 दिय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थके ज्ञानकी रहितता यह मोहनी कर्मकी प्रकृति है ।
 जैसे समान दूसरी गतिमें जानेको रोकना यह आयु-कर्मकी प्रकृति है । चित्रकार
 खेतरा) पुरपके तुल्य नानाप्रकारके रूपका करना यह नामकर्मकी प्रकृति है । छोटे बड़े
 तन (पट आदि) को करनेवाले कुंभारकी भांति उच्च तथा नीच गोत्रको करना यह
 कर्मकी प्रकृति है । भंडारीके समान दान आदिमें विभ्र करना यह अन्तराय कर्मकी
 ति है । सो ही कहा है—“पट (घग्ग), प्रतीहार (द्वारपाल) तलवार, मघ, बेड़ी,
 ररा, कुंभकार और भंडारी इन आठोंका जैसा स्वभाव है वैसाही कमसे ज्ञानावरण आदि
 प्रे कर्मोंका स्वभाव है ॥ १ ॥” इस प्रकार गाथामें कहे हुए आठ दृष्टान्तोंके अनुसार
 नि बंध जानना चाहिये ॥ तात्पर्य यह कि कर्मपुद्गलोंका ज्ञानावरण आदि शक्ति
 त हो जाना ही प्रकृतिबंध है । तथा बकरी, गौ, महिषी (भैस) आदिके दुग्धोंमें
 दो प्रहर आदि अपने मधुर रसमें रहनेकी स्थिति कही जाती है अर्थात् बकरीका दूध
 महरत्तक अपने मधुर रसमें स्थित रहता है इत्यादि स्थितिका कथन है उसी प्रकार
 के प्रदेशोंमें जितने काल पर्यन्त कर्मसंबंधसे स्थिति है उसने कालको स्थितिबंध
 ना चाहिये । और जैसे उन पूर्वोक्त बकरी आदिके दूधोंमें तारतम्यसे (न्यूनाधिक-
) मधुर-रसमें प्राप्त शक्तिविशेषरूप अनुभाग कहा जाता है उसी प्रकार जीवके
 गोमें स्थित जो कर्मोंके प्रदेश है उनके जो सुम्ब तथा दुःख देनेमें समर्थ शक्ति विशेष
 तको अनुभाग बंध जानना चाहिये । और वह घाति कर्मसे संबंध रखनेवाली शक्ति
 (बेल), काष्ठ, हाड़, और पापाण भेदसे चार प्रकारकी है-इसी प्रकार अशुभ अघा-
 १ कर्मों संबंधिनी शक्ति निंब, कांजीर (फाली जीरी), विष तथा हालाहल रूपसे चार
 रकी है । और शुभ अघातिया कर्मों संबंधी शक्ति मुड़, खांड, मिथ्री तथा अमृत इन भेदोंसे
 तरहकी है । एक एक आत्माके प्रदेशमें सिद्धोंसे अनन्तैकभाग (अनःतर्नेसे एक भाग)

संख्याके धारक और अमव्यराशिसे अनन्तगुणे परिमाणके धारक ऐसे प्रत्येक क्षणमें बंधको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेशबंधका स्वरूप है। अब बंधके कहते हैं—“जोगा पयडिपदेसा द्विदिअणुभागा कसायदो हुंति” योगसे प्रकृत प्रदेशबंध होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग ये दो बंध कषायोंसे होते हैं। इसप्रकार कारण यह है कि, निश्चयनयमे जो कियारहित भी शुद्ध आत्माके प्रदेश हैं उनका हारसे जो परिम्पन्न (चलायमान करनेका) कारण है उसको योग कहते हैं। उनसे प्रकृति तथा प्रदेश नामक दो बंध होते हैं। और दोपरहित जो परमात्मा है, उसको (ध्यान) के प्रतिबंधक (रोकनेवाले) जो कोष आदि कषाय हैं उनके उदयने और अनुभाग ये दो बंध होते हैं। कदाचित्—आत्मव और बंधके होनेमें मिथ्यात्व, रति, आदि कारण समान हैं। इसलिये आत्मव और बंधमें क्या भेद है? ऐसी प्रश्नका यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम क्षणमें जो कर्मस्फूर्णोंका आगमन है, वह तो आत्मव है कर्मस्फूर्णोंके आगमनके पीछे द्वितीय, तृतीय आदि क्षणोंमें जो उन कर्मस्फूर्णोंका जीवके शरीरमें स्थित होना है सो बंध है। यह भेद आत्मव और बंधमें है। जिस कारणसे कि येन कषायोंमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बंध होते हैं, उसी कारणसे न नाश करनेके अर्थ योग तथा कषायका त्याग करके अपने शुद्ध आत्मामें मानना चाहिये। यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

ऐसे बंधके व्याख्यान रूप जो दो गायामूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्यायमें द्वि स्थल समाप्त हुआ।

अत्र ऊर्ध्व गायामूत्रेण संवरपदार्थः कथ्यते । तत्र प्रथमगायायां भावसंवरद्रव्यसंवरणानि निरूपयति ।

अब इसके आगे दो गायामूत्रोंमें संवर पदार्थका कथन करते हैं । उनमें प्रथम ऊर्ध्व भावसंवर और द्रव्यसंवरके स्वरूपका निरूपण करते हैं ।

वेदणपरिणामो जो कम्मस्सासयणिरोहणे हेतु ।

सो भावसंवरो खलु द्रव्यामवरोहणे अपणो ॥ ३४ ॥

गायामायार्थः—जो चेतनका परिणाम कर्मके आत्मवको रोकनेमें कारण है, उनके निश्चयमें भावसंवर कहते हैं। और जो द्रव्यामवको रोकनेमें कारण है सो द्रव्यसंवर द्रव्यसंवर है ॥ ३४ ॥

व्याख्या । “वेदणपरिणामो जो कम्मस्सासयणिरोहणे हेतु सो भावसंवरो खलु” वेदण परिणामो यः कथंभूतः कम्मस्वरविरोधने हेतुः स भावसंवरो भवति खलु निश्चरं । “द्रव्यामवरोहणे अपणो” द्रव्यकर्मस्वरविरोधने कारणो द्रव्यसंवर इति । तथापि निश्चरं स्वकः निद्रुत्पन्नकारणनिर्गमः, स धियाविजयप्रणालियः परमोभाषणमात्रमात्रमात्रमात्र इत्यर्थः, अनापन्ननन्त्यादिमध्यान्तगुण, दृष्टधुतानुभूतभोगाद्याकारणित्वात्परिणामवत्परिणाम

स्वभावात्सर्वविभावमन्तरहितत्वादनन्तनिर्मलः, परमचैतन्यवितासलक्षणत्वाग्निदुन्दलननिर्भ-
रः, स्वभावेवपरमानन्दैवत्क्षणत्वात्परमगुणमूर्तिः, निराश्रयसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसं-
रहेद्रुक्तिगुणत्वात्तः परमात्मा सात्त्विकभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवर-
भवति । पशु भावसंवरत्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्य-
संवर इत्यर्थः ॥

प्यारण्यार्थः—“चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवर-
रवणु” जो चेतनका परिणाम कर्मके आमयको रोकनेका कारण होता है, वह निश्चयसे
भानसंवर है । “द्वेषासंवररोहणे अण्णो” द्रव्य कर्मके आमयका निरोध होनेपर दूसरा
द्रव्यसंवर होता है । सो इस प्रकार है—निश्चयनयसे स्वयं सिद्ध होनेसे अन्य कारणकी
अपेक्षासे शून्य, अधिनाशी होनेसे नित्य, परम उद्योत (प्रकाश) स्वभाव होनेसे अपने
और परके प्रकाशनमें समर्थ, अनादि अनन्त होनेसे आदि मध्य और अन्तरहित, देखे
गुने और अनुभवमें किये हुए जो भोग है उनकी आकांक्षा (चाह) रूप जो निदान, बंध
आदि समस्त रागादिक विभावमल उनसे रहित होनेके कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैत-
न्यविलासरूप लक्षणका धारक होनेसे चित् चमत्कार (चिन्मय) स्वरूप, स्वाभाविक पर-
मानन्द स्वरूप होनेसे परम सुखकी मूर्धिका धारक और आसवरहित सहज स्वभाव
होनेसे सब कर्मके संवर (रोकने) में कारण, इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणोंका धारक जो पर-
मात्मा है उसके स्वभावसे उत्पन्न जो यह शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है ।
और कारणभूत भावसंवरसे उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्य कर्मके आगमनका
अभाव है सो द्रव्य संवर है । इस प्रकार गार्थार्थ है ॥

अथ संवरविषयनयविभागः कथ्यते । तथा हि मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकपायपर्यन्तमुपर्युप-
रि मन्दत्वात्तारत्वेन तावद्गुणनिश्चयो वर्तते । तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभानुभु-
द्धानुष्ठानरूपयोगप्रयत्न्यापारत्निसृष्टिः । तदुच्यते—मिथ्यादृष्टिसासादनमिध्रगुणस्थानेपुपर्युपरि
मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिषावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धो-
पयोगसाधक उपर्युपरि सारत्वेन शुभोपयोगो वर्तते, तदनन्तरमप्रयत्नादिक्षीणकपायपर्यन्तं
जपन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैरुद्देशगुणनयरूपगुणोपयोगो वर्तते, तत्रैवं मिथ्यादृष्टि-
गुणस्थाने संवरो नास्ति, सासादनादिगुणस्थानेषु “सोलसपणवीसणभं दसपउच्छेककबंधवो
उिप्रा । दुगढीसचदुरपुञ्जे पणसोलहजोगिणो एवो । १ ।” इति बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितक-
मेणोपर्युपरि प्रकल्पेण संवरो ज्ञातव्य इति । अनुद्वनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषु
पयोगप्रयं ध्यात्वात्, तत्रानुद्वनिश्चये गुणोपयोगः कथं घटत इति चेत्तत्रोत्तरं—गुणोपयोगे
शुद्धयुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयसिद्धिस्तैः कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धा-
त्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते । स च संवरशब्दाच्च शुद्धोपयोगः संसारकारण-
भूतमिथ्यात्वरगाद्यशुद्धपर्यायवद्गुणो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानतत्त्वगुणशुद्धपर्यायवत्
शुद्धोऽपि न भवति किन्तु साभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विवक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूप-

न्यूनं तथा मोक्षरूप, तथा उमके, स्वयंवाग्भिभावमंबंधमे प्रदण किया हुआ स्त्री आदि
 तिन द्रव्य, सुदर्प आदि अचेतन द्रव्य और चेतन तथा अचेतनमे मिला हुआ मिश्र
 दार्थ इय प्रकार पूर्वांक न्धाणोगहित जो ये है मो सब अधुव है, इस प्रकार भावना
 सिद्धि । उम भावनागहित जो पुरप है उमके उनके बियोग होनेपर भी उच्छिष्ट (जूंटे)
 गेजनोंके समान ममत्व नहीं होता है । और उनमें ममत्वका अभाव होनेमे अविनाशी
 नेत्र परमात्माको ही भेद तथा अमेदरूप रत्नत्रयकी भावनासे भावन करता (भावता) है
 और जैसे अविनभर आत्माको भावता है, वैसे ही अक्षय अनन्त सुस्वरूप स्वभावका धारक
 तो मुक्त आत्मा है उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार अधुव भावना पूर्ण हुई ।

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणत स्वशुद्धात्मद्रव्ये तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठिया-
 उपनञ्च शरणम्, तन्नाडहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्तिमुभटकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गा-
 र्भुविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रसादादिपञ्चाद्यः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राद्य मरणकालादौ
 ग्राहक्यां व्याघ्रगृहीतभृगुपालस्यैव महासमुद्रे पीतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञे-
 त्म् । तद्विज्ञाय भोगाकाहारूपनिदानपन्थादिनिगालम्बने स्वसंबिचितिसमुत्पन्नसुखामृतसाल-
 यने स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बनं कृत्वा भावनां करोति । यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति
 ग्राहकमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतवज्रपत्नरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति । इत्यशर-
 नानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥

अथ अशरण अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं । निश्चयरत्नत्रयमें परिणत जो निजशुद्धात्म-
 द्रव्य है सो और उसका बहिरंग सहकारी कारणभूत जो पंचपरमेष्ठियोंका आराधन है सो
 शरण है । उससे बहिर्भूत (भिन्न) जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, मुभट, कोटिभट और पुत्र
 प्रादि चेतन, पर्वत, किला, भुविवर (बहारा), मणि, मन्त्र, आज्ञा, प्रसाद और औपध
 प्रादि अचेतन तथा चेतन और अचेतन इन दोनोंसे मिश्र, ये सब पदार्थ मरण आदिके
 समयमें जैसे महावनमें व्याघ्रसे पकड़े हुए हिरणके बच्चेको अथवा महासमुद्रमें
 ग्राहकसे च्युत (रहित) हुए पक्षीके कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार शरण नहीं होते हैं,
 यह जानना चाहिये । और अन्य वस्तुको अपना शरण न जानकर, भोगकी बांछारूप
 निदानबंध आदिकके अवलम्बन (आधार)से रहित तथा स्व (आत्म) ज्ञानसे उत्पन्न
 सुस्वरूप अमृतका धारक जो निजशुद्ध आत्मा है, उसीका अवलंबन करके, उसकी भावनाको
 करता है । और जैसे आत्माको यह शरणभूत भावता है, वैसेही सब कालमें शरणभूत
 और शरणमें आये हुएके अर्थ वज्रके पीपरेके समान जो निजशुद्ध आत्मा है, उसको प्राप्त
 होता है । इस प्रकार द्वितीय अशरण अनुप्रेक्षाका व्याख्यान हुआ ॥

अथ शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि क्षान्तावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण
 त्रीरूपोपगार्थाज्ञानपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्य-
 संसारः । स्वशुद्धात्मद्रव्यसंबन्धिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितसख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकश्रे-

त्रप्रदेशास्तत्रैकैकं प्रदेशं व्याप्यामन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः नास्तीति क्षेत्रसंसारः । शुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्धिकल्पसमाधिकालं विहाय टिसागरेण प्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरारवर्त्तनकालेनानन्तवारान् न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः । अभेदब्रजयात्मकसमाधिगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय प्यभवेपु तथैव देवभवेपु च णरूपजिनदीक्षाबलेन नवप्रैवेयकपर्यन्तं "सको सकमहिस्सी दक्खिणइंदा योयतिया य देवा तच्छ चुदा णिच्चुदिं जंति । १ ।" इति गाथाकथितपदानि न्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भावनासहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः ।

अब तृतीय संसारानुपेक्षाका वर्णन करते हैं । शुद्ध आत्मद्रव्यसे भिन्न अपूर्व तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्य हैं; उनको ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूपसे पोषणके लिये भोजन पान आदि पांचों इन्द्रियोंके विषयरूपसे इस जीवने ग्रहण करके छोड़े हैं । इस प्रकार द्रव्यसंसार है । निजशुद्ध आत्मारूप द्रव्यसंबंधी शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न जो लोकरूप क्षेत्रके उनमें, एक एक प्रदेशको व्याप्त करके, जिस प्रदेशमें अनंत बार यह जीव हुआ हो और न मरा हो, वह कोई भी प्रदेश नहीं है । यह क्षेत्र संसार है । निज आत्माके अनुभव रूप निर्धिकल्प समाधि (ध्यान) के समयको त्यागकर, दशकोटा मागर प्रमाण जो उत्सर्पिणी काल और दशकोटाकोटिसागर प्रमाण ही जो अरत्त काट है, उसके एक एक समयमें अनेक परावर्त्तन कालसे यह जीव यहांपर अनन्त न जन्मा हो और न मरा हो वह समय नहीं है । इस प्रकार काल संसार है । अभेदब्रजयात्मक ध्यानके बन्धने सिद्धगतिमें निज आत्माकी प्राप्ति लक्षण सिद्ध पर्यायका उत्पाद (जन्म) है उसके त्यागकर नारक, तिर्यग, मनुष्य और देवोंके भागमें निज आत्माकी भावनामें रहित और भोग बाँछादि निदान सहित जो द्रव्यतपधारणरूप दीक्षा (मुनिपना) है उसके बन्धने नव प्रैवेयक पर्यन्त "प्रथम सर्गका इन्द्र, प्रथम मंदी महा इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशाके इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव स्वर्गमें च्युत होकर निर्वृति (मोक्ष) को प्राप्त होने हैं । १ ।" ऐसे गाथामें कहे हुए बौद्ध पद तथा अन्य अन्य भी जो आगममें निषिद्ध (मना किये हुए) उपनयन उनको छोड़कर, भवचा नाश करनेवाली जो निज आत्माकी भावना है उसमें रहित भवको उत्पन्न करनेवाले निष्काम, राग आदि जो भाव हैं उनमें रहित हुआ यह जीव अनन्त जन्मा है और मरा है । इस प्रकार यह पूर्वकथित भवमागारका स्वल्प वर्णन है ।

आदिके सद्भावके नाशके कारण जो विगुह्र ज्ञान दर्शन स्वमात्रका प्र-
 तत्व है उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र्यरूप जो मग्यदर्शन के
 उन्हींको इस जीवने प्राप्त नहीं किये । इस प्रकार भावमंगारका स्वरूप है ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयते
 संसारातीतस्वशुद्धात्ममवित्तिनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु नि ४. विनिर्दिष्टं ।
 परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीतमुग्राभ्यां रतो भूत्वा
 विनाशकनिजनिरञ्जनपरमात्मन्येव भावनां करोति । तत्र यादृशमेव परमात्मनो
 तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणं मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति । अयं तु विशेषः
 गोदजीवान् विहाय पञ्चप्रकारसंसारव्याख्यानं ज्ञानव्ययम् । कम्नादिनि चेत्—
 दृजीवानां कालत्रयेऽपि प्रसत्तं नाम्नीति । तथा चोक्तं—“अत्रिय अगता जीवा जेई
 वसाण परिणामो । भावकंलकमुपउता गिगोद्वामं न मुंचंति । १ ।”
 मनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकरुनवशतपरिमाणान्ते च नि
 क्षपितकर्मण इन्द्रगोपाः संजातानेषां च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतदम्बिन्या प. ३. २०
 श्रुत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भगवतुत्रा जातान्ते च केनचिदपि मह न वदन्ति । ततो
 समवसरणे भगवान् वृष्टो भगवता च प्राकृतनं वृत्तान्तं कथितम् । तच्छ्रुत्वा ते तपो
 क्षणस्तोककालेन मोक्षं गताः । आचारापनाटिप्पणे कथितमात्से । इति

इस पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जो पांच प्रकारका
 है उसको भावते हुए इस जीवके संसारसे हटानेको कारण जो निजशुद्ध आत्माका ज्ञ-
 उसका नाश करनेवाले और संसारकी वृद्धिके कारणभूत ऐंमे जो मिथ्यात्व, अवि-
 प्रमाद, कषाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं होता है; किन्तु वह जीव संसारसे बर्-
 (नहीं होनेवाला) जो सुख है उसके आम्वादमें रत (तत्पर) होके, निजशुद्ध अ-
 ज्ञानके बलसे संसारको नष्ट करनेवाला जो निज निरञ्जन परमात्मा है, उसीमें भावना क-
 है । और इसके पश्चात् जैसे परमात्माको भावता है, वैसे ही परमात्माको प्राप्त होके, सं-
 विलक्षण जो मोक्ष है, उसमें अनन्त काल निवास करता है ॥ यहाँपर विशेष यह है कि
 नित्य निगोदके जीवोंको छोड़कर, इस उक्त पंच प्रकारके संसारका व्याख्यान जानना क-
 हिये, अर्थात् नित्य निगोद जीव इस पंच प्रकारके संसारमें परिभ्रमण नहीं करते हैं ।
 क्योंकि—नित्य निगोदवर्ती जो जीव हैं उनके तीन कालमें भी त्रमता अर्थात् वेदनीय
 आदिका धारण करना नहीं है । सोही कहा है—“ऐंमे अनन जीव हैं कि जिन्होंने त्रम वर्-
 यको प्राप्त ही नहीं किया. और भाव कालको (अशुभपरिणामों)से भरपूर हैं, त्रिषे वे
 निगोदके निवामको नहीं छोड़ते हैं” । और यह बात अनुपम और अद्वितीय है कि “क-
 नादिकालसे मिथ्यादृष्टि ऐंमे भी नैमो तेर्दम (९.२३) भरतजीके

निवासी थे और नित्य निगोदमें कर्मोंकी निर्जरा होनेसे वे इन्द्रगोप (सावनकी) नामक कीड़े हुए, सो उन सबके ढेरपर भरतके हाथीने पैर रख दिया इससे रफर, भरतजीके बर्द्धनकुमार आदि पुत्र हुए और वे किसीके साथ भी न बोलते थे । शरप, भरतजीने समयसरणमें भगवान्से पूछा, तो भगवान्ने पुराना सब वृत्तान्त कहा । वे मुनकर, उन सब बर्द्धनकुमारादि पुत्रोंने तप प्रहण किया और बहुत ही अल्प में मोक्ष चले गये." यह कथा आचारापनाकी टिप्पणीमें कही हुई है । इस प्रकार अनुपेक्षाका व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

येकत्वानुपेक्षा कथ्यते । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावनापरिणतस्यास्य न निश्चयनयेन सहजानन्दसुराद्यनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञानमेवैकं सहजं शरीरम् । ओऽर्थः स्वरूपं न च सप्तधानुमयौदारिकशरीरम् । तथैवार्त्तरीद्रदुर्भ्यानविलक्षणपरमयिकलक्षणैकत्वभावनापरिणतं निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारि न च लग्नगोत्रादिः । तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षासंयमलक्षणैकत्वभावनासहितः स्वशुद्धात्मपदार्थ एवाविनाशरहितकारि परमोऽर्थः न च सुवर्णाद्यर्थः । तथैव निर्विकल्पसमाधिस्वमुत्पन्नकारपरमानन्दैकलक्षणानाकुलत्वस्वभावात्मसुरमेवैकं सुरं न चाकुलत्वोत्पादकेन्द्रियमेति । कर्मादिदं देहयन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुरादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति पतो मरणकाले जीव एक एव मत्तन्तरं गच्छति न च देहादीनि । तथैव रोगव्याले विषयकफायादिदुर्भ्यानरहितः स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति । तदपि कथमिति चेन् ? चरमदेशो भवति तर्हि केवलज्ञानादिव्यकिरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेशस्य तु संसारः स्तोकां कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुरं दत्त्वा च पञ्चान् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः । चोक्तं—“सर्वं तवेण सर्वो, वि पावए किंतु ज्ञानजोयेण । जो पावइ सो पावइ, परं तासयं सोकरं । १ ।” एवमेकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना या । इत्येकत्वानुपेक्षा गता ॥ ३ ॥

यह एकत्व अनुपेक्षाका वर्णन करते हैं । यह इस प्रकार है—निश्चयरत्नत्रयरूप एक का धारक जो एकत्व है उसकी भावनामें परिणत इस जीवके निश्चयनयसे सहज द, सुख आदि अनन्त गुणोंका आधाररूप जो केवल ज्ञान है वह एक ही सहज भाव से उत्पन्न शरीर है । यहां 'शरीर' इस शब्दका अर्थ स्वरूप समझना; न कि सातोंसे निर्मित औदारिक शरीर । इसी प्रकार आर्त्त और रीद्र इन दोनों ध्यानोसे विल- (उलटी) जो परमसामायिक रूप एकत्व भावना है उसमें परिणत जो एक अपना तत्त्व है वही सदा अविनाशी और परम हितका करनेवाला है; और पुत्र, मित्र, कलत्र हितके कर्ता नहीं । पूर्वोक्त रीतिसे ही परम उपेक्षा संयमरूप जो एकत्व ॥ है; उससे सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है; वह एकही अविनाशी तथा हित-



और इस अन्यत्व अनुपेक्षामें 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं' निषेध रूपसे वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुपेक्षा-
या निषेधरूप ही विशेष (भेद) है और तात्पर्य तो दोनोंका एकही है।
अनुपेक्षा समाप्त हुई ॥ ५ ॥

मनुचित्वानुपेक्षा कथ्यते । तद्यथा—सर्वानुचित्कशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव
समेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि घातवः" इत्युक्तानुचितसमधानुमयत्वेन तथा नामिका-
रैरपि स्वरूपेणानुचितत्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यनुचितमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाद्वाद्यनुचिरय-
त्त्वमलमनुचिकारणत्वेनानुचिः स्वरूपेणानुच्युत्पादकत्वेन चानुचिः । शुचि गुणव्य-
धीनामनुचित्योत्पादकत्वाच्चानुचिः । इदानीं शुचित्वं कथ्यते—सहजमुद्धकेवल-
विगानामाधारभूतत्वात्स्वयं निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव शुचिः । "जीवो ब्रह्म-
विश्वे चरिया हविर्ज जो जदिणो । तं जाण वदधेत् विमुक्कपरदेदभत्तीण । १ ।"
कथितनिर्मलब्रह्मचर्यं तत्रैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते । तथैव ब्रह्म-
शुचिरिति वचनात्तथाविषमब्रह्मचारिणामेव शुचित्वं न च कामक्रोधादिरहानां जल-
विषडपि । तथैव च—"जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते । मुनेन श्रोत्रियो
ऋषेण ब्राह्मणः । १ ।" इति वचनात्त एव निश्चयमुक्त्वाः ब्राह्मणः । तथा चोक्तं
शुभिसिद्धे प्रति विमुक्त्वात्मनदीयानामेव परमशुचित्वकारणं न च छंदिक्कगद्वा
नादिकम् । "आत्मा नदी बंधमतोयपूर्णां सत्यावदा शीलनटा दयोमिः । तत्राभि-
ण्डुपुत्र न वारिणा मुद्धपति चान्तरात्मा । १ ।" इत्यनुचित्वानुपेक्षा समाप्त । ६ ।

अनुचित्व अनुपेक्षाका कथन करते हैं। यह इस प्रकार है—अपने अपवित्र
(पिताका वीर्य) और शोणित (माताका रश्मि) रूप कारणसे उत्पन्न
रूप तथा "बसा, रश्मि, मांस, मेद, अस्थि (टाढ़) मज्जा, और शुक्र ये धातु हैं"
पूर्वोक्त अपवित्र जो सप्त ७ धातु हैं इनरूप होनेसे तथा मांस आदि जो ६
स्वरूपसे भी अनुचि होनेसे और इसी भाँतिसे मूत्र, पुरीष (दिहा) आदि
मलोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे यह देह अनुचि है। और केवल अनुचि वय-
उत्पन्न होनेके कारण ही यह अनुचि नहीं है, किन्तु यह दारीर स्वरूपसे भी अनुचि
और अनुचि मल आदिका जनक होनेसे भी अनुचि है। और पवित्र औ शुभ-ध,
या, वर आदि हैं उनमें भी यह दारीर अपने सगर्भसे अपवित्रता उत्पन्न करता है, इन
रूप भी अनुचि है। अब पवित्रताका कथन करते हैं—सहज मुद्ध ऐसे जो केवल इन
दि गुण हैं उनका आधारभूत होनेसे और निश्चयसे अपने आप पवित्र होनेसे यह पर-
मात्मा ही शुचि है। "जीव ब्रह्म है, जीवहीमें जो मुनिकी चर्या (सृष्टि) होवे उसके
ही है परदेदकी सेवा जगने ऐसा ब्रह्मचर्य जानो । १ ।" इस
मूल ब्रह्मचर्य है, तो उस परमात्मामें स्थित हुए जीवोके ही

तत तथा क्रियारूप आमर्षोका स्वरूप जानना चाहिये । जैसे समुद्रमें अनेक रत्नोंके छोसे भरे हुए छिद्रसहित पोतका (जहाज) जलके प्रवेश होनेपर पतन होता है और ; पोत समुद्रके किनारे जो पत्तन (नगर) है उसको नहीं प्राप्त होता है । उसी प्रकार अदर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जो अमूल्य रत्नोंके भाँड़े हैं उनसे पूर्ण इय जीव नाया ३३ पूर्वोक्त इन्द्रिय आदि आसर्षोद्वारा जब कर्मरूपी जलमें प्रवेश हो जाता है तब माररूपी समुद्रमें ही पतन होता है । और केवलज्ञान अव्याबाध गुण आदि अनन्त इय रत्नोंसे पूर्ण जो मुक्ति स्वरूप वेलापत्तन (संसार समुद्रके किनारेका शहर) है को यह जीव नहीं प्राप्त होता है । इत्यादि प्रकारसे आसर्षमें प्राप्त दोषोंका जो विचार ज्ञाना है, वह आत्मवानुपेक्षा जाननी चाहिये ॥ ७ ॥

अथ संवरानुपेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य ह्यम्पने सति जलप्रवेशामावे विभिन्नं वेलापत्तनं प्राप्नोति; तथा जीवजलपात्रं निजगुणद्वारात्ममयित्तियलेन इन्द्रियाणां अ- छिद्राणां ह्यम्पने सति कर्मजलप्रवेशामावे विभिन्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिरत्न- प्राप्नोतीति । एवं संवरनतगुणानुचिन्तनं संवरानुपेक्षा ज्ञातव्या ॥ ८ ॥

अथ संवर अनुपेक्षाका वर्णन करते हैं । जैसे बड़ी समुद्रका पोत अपने छिद्रोंके धंर हो जानेसे जलके प्रवेशका अभाव होनेपर निर्विभ्रतापूर्वक वेलापत्तनको प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी पोत अपने शुद्ध आत्माके ज्ञानके बलमें इन्द्रिय आदि आसर्षरूप रत्नोंके मुँद जानेसे कर्मरूप जलके प्रवेशका अभाव होनेपर निर्विभ्र केवलज्ञान आदि अनन्त गुण रत्नोंसे पूर्ण जो मुक्तिरूप वेलापत्तन है, उसको प्राप्त होता है । ऐसे संवरमें जमान जो गुण हैं उनके चिंतवन स्वरूप संवर अनुपेक्षा जाननी चाहिये । ८ ।

अथ निर्जरानुपेक्षां प्रतिपादयति । यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण मलमश्रये जाते सयाहारं कृत्वा किमपि हृदितकथादिकं मलपापकमिदीरकं धौषधं गृह्णाति । तेन च मलपापेन ज्ञानां पातने गलने निर्जरणे सति सुखी भवति । तथायं भव्यजीर्णोऽप्यजीर्णजनकादा- र्णानीयमिध्यात्वरागाद्यमानभावेन कर्ममलमश्रये सति सिध्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमा- ध्यानीयं जीवितमरणलाभालाभमुखदुःखादिगमभाषनाप्रतिपादकं कर्ममलपापकं शुद्ध- कानामिदीरकं च जिनवचनीपधं सेवते । तेन च कर्ममलजां गलने निर्जरणे सति सुखी भवति । किञ्च यथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले यद्दुःख जातं तदजीर्णं गतेऽपि न विरमति । तथायं भव्यजीर्णोऽपि भव्यजीर्णजनकादारं परिहरति तेन च सर्वदुःखं मुक्तीभवति । तथा विवेकिनोऽपि "आत्मो- ता धर्मपरा भवति" इति वचनाद्दुःखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणाया जायन्ते तान् दुःखे गतेऽपि विरमति । एतच्च निजपरमात्मानुभूतिबलं निर्जरार्थं दृष्टभूतानुभूतभोगाकादादिबिभाव- र्णामपरित्यागरूपैः संबन्धैरावपरिणाभैर्बलित इति । संबन्धैरावपरिणाभैः कथयते—“धर्मं च त्यक्त्वापि संसरे च हरिषो च हृति संबन्धो । संसारदेहभोगेषु विरक्तभाषो च संसरे ॥१॥” इति निर्जरानुपेक्षागता ॥ ९ ॥

अब निर्जरानुपेशका प्रतिपादन करते हैं—जैसे किसी मनुष्यके अजीर्ण दोषे संचय (पेटमें मलका जमाव) हो जावे तो वह मनुष्य आहारको छोड़ करके, पचानेवाले तथा अमिको तीव्र करनेवाले किसी हूरडे आदि औषधको ग्रहण करे और जब उस औषधसे मल पड़जाते हैं, गलजाते हैं अथवा निर्जर जाते हैं तब सुखी होता है। उसी प्रकार यह मन्त्र्यजीव भी अजीर्णको उत्पन्न करनेवाले भूत (एवज) जो मिथ्यात्व, राग तथा अज्ञान आदि भाव हैं उनसे कर्मरूपी होनेपर मिथ्यात्व, राग आदिको छोड़कर, परम औषधके स्थानभूत जीवन, मरने अलाभमें और सुख दुःख आदिमें समान भावनाको उत्पन्न करनेवाला, शुद्ध वाला तथा शुद्ध ध्यानरूप अमिको दीप्त करनेवाला जो जिनवचनरूप औषध है सेवन करता है। और उससे जब कर्मरूपी मलोंका गलन तथा निर्जरण होजाता सुखी होता है। और भी विशेष है कि जैसे कोई बुद्धिमान् अजीर्णके समयमें हुआ उसको अजीर्णके नाश होजानेपर भी नहीं भूलता है और उसके स्मरणपूर्वक पके उत्पन्न करनेवाले आहारको छोड़ देता है और इस कारण सदा ही सुखी हो बैसे ही विवेकी (ज्ञानी) मनुष्य भी “दुःखी मनुष्य धर्ममें तत्पर होते हैं” इस सार दुःखके उत्पन्न होनेके समय जो धर्मरूप परिणाम होते है उनको दुःख नष्ट पर भी नहीं भूलता है। और इसके पश्चात् निज परम आत्मके अनुभवके बलमें निमित्त जो देवे, गुने तथा अनुभवमें किये हुए भोगवांछादि रूप विभाव परिणाम परिणाम (त्याग) रूप संवेग तथा वैराग्यरूप परिणामोंके साथ रहता है ॥ संके वैराग्यका लक्षण कहते हैं—“धर्ममें, धर्मके फलमें और दर्शनमें जो हर्ष होता है संवेग है; और मंगार, देह तथा भोगोंमें विरक्त भावरूप वैराग्य है ॥१॥” ऐसे निर्जर मेशा ममान् हुं ॥ ९ ॥

अथ छोकानुपेशा प्रतिपादयति । अथथा-अनन्तानन्ताकाशवद्रूपप्रदेशे पनोदधिरत्त
 कतनुवाताभिधानायुष्यवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्रलागंग्यालप्रदेशो लोकोऽस्ति । इत्
 कारः कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इ
 परं ह्यनु सुरजो पूर्णो छोकस्तु अमुष्केण इति विशेषः । अथवा प्रमादितपादस्य कतिपय
 कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इत्
 कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इत्
 पूर्वाभिनेन पुनरधीरमागे सत्तराजुविस्तरः । तत्रभाषोभागात् कर्मशान्तिरूपेण हीयते अ
 न्त्पदोद्वेष्टरानुसमागतिस्त्वामो भवति । ततो मध्यकोद्याद्दं कर्मवृत्त्या बद्धेन यावत्प्रद
 कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इत्
 कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इत्
 कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इत्
 कल्पन्ते-अधोमुखाद्धंशुसज्ज्योपरि पूर्णं सुरजे स्थितिं यादृशाकारो भवति । इत्

सप्तधोऽधोतोषसंबन्धिन्यः । ऊर्ध्वभागे मध्यलोकतोषसंबन्धिलक्ष्योऽननप्रमाणमेह्रमेधः
सप्तध ऊर्ध्वलोषसंबन्धिन्यः ॥

अब लोकानुपेक्षाका निरूपण करते हैं । यह इस प्रकार है, अनंतानन्त जो आकाश है
मके धातु ही मध्यकं प्रदेशमें पनोदधि, पनवात और तनुवात नामक तीन पवनोसे घेष्टित
देश हुआ), आदि और अंतरहित, अकृत्रिम, निश्चल और असंख्यात प्रदेशका धारक
लोक है । उसके आकारका कथन करते हैं; नीचे गुन किये हुए अथे मृदंगके ऊपर पूरा
द्वंग रमनेजर जैसा आकार होना है वैसा आकार लोकका है, परन्तु मृदंग गोल है और
लोक चौकोर है, यह भेद है । अथवा फैलाये है पाद (पैर) जिसने और कटिके तटपर
बसे है हाथ जिनने ऐसे गड़ेगुण मनुष्यका जैसा आकार होता है, वैसा लोकका आकार है ।
यह उभी लोककी उँचाई, स्वर्य तथा विस्तारका निरूपण करते हैं—चौदह १४ रज्जु
मान ऊँचा तथा दक्षिण उत्तरमें सब जगह सात राजू लम्बा यह लोक है और पूर्व पश्चि-
में नीचेके भागमें सात राजू विस्तार है और फिर उस अधोभागसे कम हानिरूपसे इतना
रज्जु है कि, मध्य (बीच) में एक रज्जु विस्तारका धारक होजाता है फिर मध्यलो-
कके ऊपर क्रमवृद्धिसे बढ़ता है सो बढ़ता २ ब्रह्मलोक अर्थात् पंचम स्वर्गके अन्तमें पाँच
रज्जुके विस्तारका धारक होता है । उसके ऊपर फिर भी पटता है सो यहांतक घटता है
कि, लोकके अन्तमें जाकर, एक रज्जु प्रमाण विस्तारवाला होता है । और इसी लोकके
मध्यमें उद्भवल (ऊरुल) के मध्यभागसे नीचेकी ओर छिद्र करके एक बांसकी नाली
रखली जाये उसका जैसा आकार होता है उसके समान एक चौकोर प्रस नाडी है; यह एक
रज्जु व्यासकी धारक और चौदह रज्जु ऊँची जाननी चाहिये । उस प्रस नाडीके अधो-
भागकी जो सात रज्जु है वे अधोलोक संबन्धी हैं और ऊर्ध्वभागमें मध्यलोककी उँचाई
संबन्धी लक्ष्य योजन प्रमाण मेरुकी उँचाई है इससहित सात रज्जु ऊर्ध्व लोकसंबन्धी हैं ॥

अतः परमधोलोकः कथ्यते । अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमपृथिवी । तस्मा-
धोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमः-
संज्ञा पट्ट भूमयो भवन्ति । तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाण क्षेत्रं भूमिरहितं निर्गोदादिपञ्चस्वावरभूतं
प विष्टति । रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं पनोदधिपनवानतनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विद्वे-
यम् । कस्यां पृथिव्यां कति नरकविलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति तामु त्रिशत्यश्च-
विंशतिपञ्चदशदशत्रिषुर्ध्वानैरुनरकशतसहस्राणि पञ्च पैत्र यथाक्रमम् ८४०००००० । अथ रत्न-
प्रभादिपृथिवीनां क्रमेण विण्डस्य प्रमाणं कथयति । विण्डस्य कोऽर्धः मन्द्रत्वस्य षाट्त्वस्येति ।
अतीतिसहस्राधिकैकलक्षं तथैव द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिषोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योज-
नानि ज्ञातव्यानि । तिर्यग्विस्तारस्तु चतुर्दिग्भागे यद्यपि प्रसनाह्यपेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्यापि
प्रमरहितवदिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति । तथाचोक्तं “मुत्रामन्ने सृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदि-
क्षु च” । अथ विस्तारं तिर्यग्विस्तारपर्यन्तमन्द्रत्वेन मन्दरावगाह्योजनसहस्रवाहुत्या मध्य-

देशोंके आगम (निवासमान) जानने चाहिये । पंचभागमें अमुर तथा राशसोंके निवास है । अन्वहुल भागमें नारक है ॥

तत्र षट्भूमिकामादावद्भोऽपः सर्वपृथिवीषु स्वकीयभ्यकीयबाहुल्यात् सकाशादथ उपरि पंचैकचोऽजनामदत्तं विद्याय मध्यभागे भूमिक्रमेण पटलानि भवन्ति प्रयोक्त्रसौकादज्ञानवसप्रपथ-
 इत्येकसंख्यानि, तान्येव मध्येमनुदायंन पुनरेकोनपश्चात्प्रमितानि । पटलानि कोऽर्थः? प्रस्ता
 वा इन्द्रका अन्तर्भूमय इति । तत्र रत्नप्रभायां सीमन्तसंज्ञे प्रथमपटलविकारे मूलोक्तवत् यत्सं-
 ख्येययोजनविस्तारवत् मध्यविलं तस्येन्द्रकमंज्ञा । तथैव षतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेणा-
 संख्येययोजनविस्ताराण्येकोनपश्चात्पटलानि । तथैव विदिक्षुषतुष्टये प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण
 तान्यष्टपरगदिगट्टिलानि तान्येवसंख्यातयोजनविस्ताराणि । तेषामपि धेणीवद्धसंज्ञा । दिग्वि-
 दिगट्टान्तरेषु पङ्क्तिरहितत्वेन पुत्रप्रकारवत्कानिचिदसंख्येययोजनविस्ताराणि कानिचिदसंख्ये-
 ययोजनविस्ताराणि यानि निवृत्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा । इतीन्द्रकभेणीवद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा
 नरका भवन्ति । इत्यनेन क्रमेण प्रथमपटलव्याख्यानं वितेयम् । तथैव पूर्वोक्तैकोनपश्चात्-
 तपटलेष्वथमंश व्याख्यानक्रमः किन्त्यष्टभेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत्सप्तमपृथिव्यां
 षतुर्दिग्भागेष्वेकं विलं विवृति ॥

उनमें षट्पतसे स्वर्नोवाले प्रासाद (महल) के समान नीचे २ सप्त पृथिवियोंमें अपने२
 बाहुष्यसे नीचे और ऊपर एक एक हजार योजनको छोड़कर, जो बीचका भाग है उसमें
 भूमि (तट्टा, खण्ड, अथवा मंजिला) के क्रमसे पटल होते हैं । उनमें प्रथम भूमिमें तेरह,
 दूसरीमें ग्यारह, तीसरीमें नव, चौथीमें सात, पांचवींमें पांच, छठीमें तीन और सातवीं पृथि-
 वीमें एक; ऐसे ये नव समुदायसे उनचास ४९ संख्या प्रमाण पटल हैं । यहां पटल शब्दका
 अर्थ प्रस्तार (तह) इन्द्रक अथवा अन्तर्भूमि है । उनमें रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवीमें
 सीमन्त नामक पहले पटलके विस्तारमें जो दार्द द्वीपके समान संख्येय (४५०००००)
 योजन विस्तारका धारक बीचका बिल है उसकी इन्द्रक संज्ञा है । उस इन्द्रककी चारों
 दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें असंख्येय योजन विस्तारके धारक उनचास बिल हैं । और
 इसी प्रकार चारों विदिशाओंमें प्रत्येक विदिशामें पङ्क्तिरूप (कतारदार) जो अड़तालीस
 (४८) बिल हैं वे भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तारके धारक हैं, इन दोनों प्रकारके बिलोंकी
 ही "धेणीवद्ध" यह मंज्ञा है अर्थात् इन्द्रककी दिशा और विदिशाओंमें जो पङ्क्ति
 (सिलसिले) के बिना होनेसे बिस्तरे हुए पुष्पोंके समान कितने ही संख्यात योजन विस्तार-
 के धारक और कितने ही असंख्यात योजन विस्तारके धारक बिल हैं, उनका "प्रकीर्णक"
 यह नाम है । ऐसे इन्द्रक, धेणीवद्ध और प्रकीर्णकरूपसे तीन प्रकारके नरक होते हैं । इस
 पूर्वोक्त क्रमसे प्रथम पटलका व्याख्यान जानना चाहिये । इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों
 पृथिवियोंमें उनचास पटल हैं उनमें भी यही व्याख्यानका क्रम है; परंतु विशेष यह है कि,

तो निश्चय स्वप्न है जगत् विलक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं इनसे विपन्न आंगुली पंचेन्द्रिय, गरुड, पक्षी, सर्प, सिंह और भी पर्यायके धारक जो जीव हैं इनके जन्म स्वप्नभादि पृथिवियोंमें गमन करकेही शक्ति है अर्थात् आंगुली पंचेन्द्रिय प्रथम भूमिमें, गरुड दूसरीमें, पक्षी तीसरीमें, सर्प चौथीमें, सिंह पांचवीमें तथा स्त्रीका जीव छठी भूमिमें जाकर नारक हो सकता है और सातवीं पृथिवीमें कर्मभूमिके उत्पन्न हुए मनुष्य और भगवन्मच्छ ही जागकने हैं । और भी विशेष यह है कि यदि कोई जीव निरन्तर नरकमें जाता है तो प्रथम पृथिवीमें क्रमसे आठ बार, दूसरीमें सात बार, तीसरीमें ६ बार, चौथीमें पांच बार, पांचवीमें चार बार, छठीमें तीन बार और सातवींमें दो बारही जाता है । और सातवें नरकसे आये हुए जीव फिर भी एक बार उसी वा अन्य किसी नरकमें जाते हैं, यह नियम है । सातवें नरकसे आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चतुर्वर्धिमंशक शालाका पुरुष नहीं होते । और चौथे नरकके आये हुए तीर्थंकर, पांचवेंमें आये हुए चरमगरीरी, छठेमें आये हुए भावलिगी मुनि और सातवेंमें आये हुए श्रावक नहीं होते हैं । तो क्या होते हैं' सो कहते हैं—“नरकसे आये हुए जीव मनुष्य, तिर्यक, कर्मभूमिमें मंजीपर्याप्त तथा गर्भज होते हैं और सातवें नरकसे आये हुए तिर्यग् गतिमें ही उत्पन्न होते हैं ॥

इदानीं नारक दुःखानि कथ्यन्ते । तथा-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्-
 भ्रदानज्ञानानुष्ठानभावनेत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतसाक्षादरहितः पञ्चेन्द्रिय-
 विषयमुग्रास्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिजीवैर्यदुपाजितं नरकायुनेरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके
 समुत्पन्न पृथिवीषतुष्टये तीव्रोष्णदुःखं, पञ्चम्यां पुनरुपरितनत्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधीभागे
 तीव्रशीतदुःखं, पञ्चम्योरतिशीतोत्पन्नदुःखमनुभवन्ति । तथैव छेदनभेदनकृष्णविदारण-
 यन्त्रपीडनशूलारोदणादितीव्रदुःखं सहन्ते । तथा चोक्तं—“अच्छिणिमीलणमिसं गतिं सुहृ
 दुःखमेव अणुबद्धं । गिरये णेरिययाणं अहोजिसं पञ्चमाणणं । ११” प्रथमपृथिवीत्रयपर्यन्तमा-
 मुगेदीरितं चेति । एवं ज्ञात्वा नारकदुःखविनाशार्थं भेदाभेदरत्नत्रयभावना कर्तव्या । संक्षेपे-
 णाधोलोकव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ॥

अब नारक जीवोंके दुःखोंका कथन करते हैं । यह इस प्रकार है—विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शनरूप स्वभावका धारक जो निजशुद्ध परमात्मतत्त्व है उसके सम्यक् भ्रदान, ज्ञान और आचरणकी भावनासे उत्पन्न जो विकाररहित परम आनन्दमय सुखरूपी अमृत उसके आस्थासे रहित और पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके सेवनमें लम्पट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि रूप पाप कर्म उपाजित किया उसके उदयसे वे नरकमें उत्पन्न होते हैं । यहाँपर पहलेकी जो चार पृथिवीयें हैं उनमें तीव्र उष्ण (गर्मी) का दुःख, और पांचवीं पृथिवीमें ऊपरके त्रिभागमें अर्थात् पंचम पृथिवीके पहले तीसरे हिस्सेमें तीव्र उष्णका दुःख और नीचेके जो दो त्रिभाग हैं उनमें तीव्र शीत (ठंड वा जाड़े) का दुःख

तथा छद्मी और सातवीं पृथिवीमें अत्यन्त गीतसे उत्पन्न हुए दुःखका अनुभव करने। और इसी प्रकार छेदने, भेदने, करोतीसे चीरने, घानीमें पेरने और शूलपर निरूप तीव्र दुःखका सहन करते हैं। सोही कहा है कि "नरकमें रातदिन ३००० पचते हुए नारकोंके नेत्रोंके टिमकार मात्र भी सुख नहीं है; किन्तु सदा दुःखही रहता है। १।" और पहली तीन पृथिवियोंतक अमुरकुमार जातिके देवोंसे दुःखको भी सहते हैं। ऐसा जानकर, नरकसंबंधी दुःखके नाशके लिये भेद जो रत्नत्रय है उसकी भावना करनी चाहिये। ऐमे संक्षेप रीतिसे अधोलोकका समाप्त हुआ ॥

अतः परं तिर्यग्लोकः कथ्यते—जम्बूद्वीपादिशुभनामानो द्वीपाः, समुद्राश्च द्विगुणद्विगुणविस्तारेण पूर्व पूर्वं परिवेष्ट्य वृत्ताकाराः स्वयम्भूरमणपर्यन्तामिन्द्रास्तारेण विस्तीर्णास्त्रिषन्ति यतस्तेन कारणेन तिर्यग्लोको भण्यते, मध्यलोकश्च। तेषु सार्द्धं तृतीयोद्धारसागरोपमलोमच्छेदप्रमितेष्वसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु मध्ये जम्बूद्वीपसिद्धौ स च जम्बूद्वीपश्चोपलक्षितो मध्यभागास्थितमरुपवंतसहितो वृत्ताकारलक्षणयोजनप्रमाणसिद्धो विष्कम्भेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे लवणसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि स्वयम्भूरमणसमुद्रसिद्धौ द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षत्रयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे घातकीलक्षणीयं वेष्टितः। सोऽपि घातकीलक्षणीयद्वीपसिद्धौ द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन बहिर्भागे कालोदकसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि कालोदकसमुद्रसिद्धौ द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे पुष्करद्वीपेन वेष्टितः। इत्यादिद्विगुणद्विगुणविष्कम्भः स्वयम्भूरमणपर्यन्तस्य स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तो ज्ञातव्यः। यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविष्कम्भद्वयसमुद्रपर्यन्तस्य योजनलक्षत्रयप्रमितासकाशाद्घातकीलक्षणीय एकलक्षेणाधिकसंख्येयद्वीपसमुद्रविष्कम्भेण स्वयम्भूरमणसमुद्रविष्कम्भ एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्यः। एवमुक्तलक्षणेष्वसंख्येयद्वीपसमुद्रविष्कम्भेष्वन्तरदेवानां पर्यन्ताशुपरिगता आवासाः, अधोभूभागगतानि भवनानि, तथैव द्वीपसमुद्रदिगतानि पुराणि च, परमागमोक्तभिन्नलक्षणानि। तथैव स्वर्भागपट्टमागस्थितप्रतरासंख्येयप्रमाणासंख्येयव्यन्तरदेवावासाः, तथैव द्वांसप्ततिलक्षाधिककोटिसप्तप्रमितभवनवासिदेवसंख्येयभवनान्यकृत्रिमजिनपैत्यालयसहितानि भवन्ति। एवमतिसंक्षेपेण तिर्यग्लोको व्याख्यातः।

अब इसके अनंतर तिर्यग् लोक अर्थात् मध्यलोकका वर्णन करते हैं। अपने दूने द्वीप विस्तारसे पूर्वपूर्व द्वीपको समुद्र और समुद्रको द्वीप इस क्रमसे भेद करके, गोल आकारके जंबू द्वीप आदि शुभ नामोंके धारक द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामोंके धारक समुद्र स्वयम्भूरमण समुद्रपर्यन्त तिर्यक् विस्तारसे विस्तृत होकर (फैल कर), स्थित हैं; इस क्रमसे हमको तिर्यक् लोक कहने हैं और मध्यलोक भी कहने हैं। वह इस प्रकार है—सोतीन उटार सागर समान लोमोंके टुकड़ोंके बराबर जो असंख्यान द्वीप समुद्रके मध्य (बीच) में जंबू द्वीप स्थित है वह जंबू (जाग्र) के पृथक् विहित तथा मध्य भाग

... को है । उसके, धारण है । मरु गो-... का नाम योजन प्रमाण है । और गो-
 ... ही मरु ही मरु चरण, अपनेमे दूने दिक्भ (दक्षिण) का धारक जो बाय भागमे
 ... का धारक है । उसके धारण (देना तथा) है । वह मरुण समुद्र भी अपने दिग्भागे
 ... ही मरुणका जो बाय भाग योजन प्रमाण गोणकार बाय भागमे धारकी रंग नामक
 ... ही मरुण धारण है । वह धारकी रंग ही भी अपनेमे दूने दिग्भागे रूप आठ लाग
 ... का धारण जो बाय भागमे बायोदक समुद्र है उसके धारण है । वह बायोदक समुद्र
 ... अपने दूने दिग्भागे रूप गोण्ट लाग योजन प्रमाण गोणकार बाय भागमे जो पुष्कर द्वीप
 ... का धारण है । इसको आदि मे, वह दूना २ दिक्भ स्वयंभूमण द्वीप तथा स्वयंभू-
 ... का समुद्रपर्वत जानना चाहिये । और जैसे अब द्वीपका दिक्भ एक लाग योजन,
 ... का समुद्रका दिक्भ दो लाग योजन, इन दोनोंके समुद्रारूप जो तीन लाग योजन
 ... का है, उसके धारकी रंग एक लाग योजन अधिक अर्थात् चार लाग योजन है; इसी
 ... का असेव्याप्त द्वीप समुद्रका जो दिक्भ है उसके एक लाग योजन अधिक स्वयंभूमण
 ... का दिक्भ जाने योग्य है । ऐसे पूर्वोक्त लक्षणके धारक असेव्याप्त द्वीप समुद्रोंमे
 ... केके, पर्वत आदिके ऊपर प्राग आवाम (स्थान), अपोभूभाग (नीचेकी पृथि-
 ... का भाग) मे प्राग भवन और द्वीप तथा समुद्र आदिमे मिले हुए पुर है । ये आवास,
 ... भवन तथा पुर परमागमे बडे हुए जो मिल २ लक्षण है, उनके धारक है । और इसी
 ... का रूपका भूमिके, वर भाग और एक भागमे स्थित मरुके असेव्याप्तके भाग प्रमाण
 ... का स्थान स्थान दोकोरे आवास है और सात करोड महार सात सख्याके धारक भवनवासी
 ... केके गोवपी भवन है वे मरु अकृत्रिम जिन चित्कासोमहित है । इस प्रकार अत्यन्त संशो-
 ... केके नियम लोक (राज्य लोक) का व्यवसाय किया गया ॥

अथ निर्वाणोक्तमभ्यन्तरो मनुष्यलोको वराद्यायते—तन्मभ्यस्थितजम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि
 भण्यन्ते । दक्षिणदिशिभागानामभ्य भवन्तिसवनहृदिवेदेहरम्यवहैरण्यवैरायतसंज्ञानि सप्तक्षे-
 प्राणि भवन्ति । क्षेत्राणि कोऽर्थः ? यथा वंशा जनपदा इत्यर्थः । तथा क्षेत्राणां विभागकारकाः
 पद् वृत्तपर्वताः कथ्यन्ते—दक्षिणदिशिभागमादीहृत्य द्विसवमहाद्विसवन्नियधनीलरुक्मिदिशपर-
 गिरोहा भरतादिमत्रक्षेत्राणामन्तरेषुपूर्वापरायता पद् वृत्तपर्वता भवन्ति । पर्वता इति कोऽर्थः ।
 वर्षधरपर्वताः शीमापर्वता इत्यर्थः । तथा पर्वतानामुपरि क्रमण इति कथ्यन्ते । पद्ममहापद्मति-
 गिष्णुकेसरीमहापुण्डरीकपुण्डरीकसंज्ञा अकृत्रिमा पद् इति भावन्ति । इति इति कोऽर्थः ?
 सप्तक्षेत्राणीत्यर्थः । तत्रैवः पद्मादिपद्मेदेभ्यः सकाशादागमकथितक्रमेण निर्गता याश्चतुर्दश न-
 चत्वारः कथ्यन्ते । तथादि—द्विसवत्पर्वतस्यपश्चनाममहाद्विशद्वर्धकोशावगाहकोशाधीकपद्मो-
 जनप्रमाणविष्णारपूर्वगोरणद्वारेण निर्गत्य तत्पर्वतस्यैवोपरि पूर्वदिशिभागेन योजनशतपञ्चकं
 गच्छति तत्रो गङ्गावृत्तसीपे दक्षिणेन व्यापृत्य भूमिस्यकुण्डे पतति तस्माद् दक्षिणद्वारेण नि-
 र्गत्य भरतक्षेत्रमभ्यमभागस्थितस्य दीपंत्वेन पूर्वापरसमुद्रस्यदिशो विजयाद्वैत्य शुद्धाद्वारेण

0
1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24
25
26
27
28
29
30
31
32
33
34
35
36
37
38
39
40
41
42
43
44
45
46
47
48
49
50
51
52
53
54
55
56
57
58
59
60
61
62
63
64
65
66
67
68
69
70
71
72
73
74
75
76
77
78
79
80
81
82
83
84
85
86
87
88
89
90
91
92
93
94
95
96
97
98
99

मभक्तिदत्ताहारदानफलनोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां २० मा.

कलभ्रणसुखामृतरसास्वादविलक्षणस्य चक्रवर्तिभोगमुखादप्यधिकस्य

गधुरसस्य

दशप्रकारकल्पपृक्षाः भोगभूमिक्षेत्रं व्याप्य विष्टन्तीत्यादिपरमागमोक्तप्रकारेणानेकाश्रयं
ज्ञातव्यानि । तस्मादेव मेरुगजादक्षिणदिग्बिभागेन गजदन्तद्वयमध्ये देवकुरुसंज्ञमुत्तमभोगेन
मिक्षेत्रमुत्तरकुरुवद्विज्ञेयम् ॥

अब शरीरमें ममत्वके कारणभूत जो मिथ्यात्व तथा राग आदि विभाव हैं, उनसे रहित के
केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंसे सहित जो निज परमात्मदान
है, उसमें जिस सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भावना करके मुनिजन विगतदेह अर्थात्
देहरहित होकर अधिकतासे मोक्षको गमन करते हैं उसको विदेह कहते हैं ।
जिन जंबूद्वीपके मध्यमें वर्तमान जो विदेह क्षेत्र है उसका विस्तारसे वर्णन करते हैं ।
इस प्रकार है—निम्नानवे हजार योजन ऊंचा एक हजार योजन गहरा और, प्रथम मन्दि-
लमें दशहजार योजन प्रमाण गोल विस्तारका धारक तथा ऊपर ऊपर एकादशांश (नती
हिस्से) हानि क्रमसे घटते घटते होनेपर मस्तक (शिखर) पर एक हजार योजन विस्-
रका धारक और शालमें कहेहुए अकृत्रिम चैत्यालय, देव, वन तथा देवोंके स्थान आदि
नाना प्रकारके आश्चर्योंसहित ऐसा विदेह क्षेत्रमें महामेरु नामक पर्वत है । वही मरु-
गज (हाथी) होगया । अतः उस मेरुरूप गजसे उत्तर दिशामें दो दन्तोंके आकारमें दो
दो पर्वत निकले हुए हैं, उनकी 'दो गजदन्त' यह संज्ञा है । और वे दोनों उत्तर भागमें
नील पर्वत है उसमें लगे हुए हैं । उन दोनों गजदन्तोंके मध्यमें जो त्रिकोण आकारका
(त्रिकोना) उत्तम भोगभूमिरूप क्षेत्र है, उसका 'उत्तरकुरु' यह नाम है । और उनके
मध्यमें मेरुकी ईशान दिशामें शीता नदी और नील पर्वतके बीचमें परमागममें कहा हुआ
अनादि, अकृत्रिम तथा पृथ्वीका विकाररूप जंबू पृक्ष है । उसी शीता नदीके दोनों त्रि-
कोण यमलगिरि नामक दो पर्वत जानने चाहिये । उन दोनों यमलगिरि पर्वतोंमें दक्षिण
दिशामें कितने ही मार्गके चले जानेपर शीता नदीके बीच २ में पन्न आदि पांच दर हैं ।
उन हदोंके दोनों पार्श्वों (पसवाड़ों) में से प्रत्येक पार्श्वमें लोकानुबोगके व्याप्यमानके अनुसार
गज सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित ऐसे जिनचैत्यालयोंमें भूषित दश दश सुवर्णपर्वत हैं । इन
प्रकार निश्चय तथा व्यवहाररूप रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले जो उत्तम पत्त हैं,
उनको परम भक्तिमें दिया हुआ जो आहारदान उनके फलमें उत्पन्न ऐसे निर्यच और मनु-
ष्योंको निज सुदृग् आत्माकी भावनामें उत्पन्न, निर्विघ्नारणव सदा आनंदरूप सुमामृत एवं
अमरदमे विदग्ध और चक्रवर्तिके जो भोगसुख हैं उनमें भी अधिक ऐसे नानप्रकारके
पर्वत-द्वयो संख्या भोग सुवर्णको देनेवाले उद्योतिरत्न, गृहात्त, प्रदीपाग, तुर्याग, भोवदंत-

१. , गार्वाग, भाननाग, भूपणाग तथा राग एवं मदको उत्पन्न करनेवाले रसांग इन ७ नामोंके धारक दश प्रकारके वन्यपशु हैं । वे भोगभूमि क्षेत्रको व्याप्त करके, स्थित हैं । इत्यादि परमागमकथित प्रकारमें अनेक आश्चर्य समझने चाहिये । और उसी मेरु-पर्वतमें निपटने हुए दक्षिण दिशामें जो 'दो गजदन्त' हैं उनके मध्यमें उत्तर कुरुके समान देवकुरु नामक उत्तम भोग भूमिका क्षेत्र जानने योग्य है ॥

सम्यादेव मेरुपर्वतापुर्व्वस्यां दिशि पूर्वापरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं रावेदिकं भद्रशालवनमग्नि । सम्यापूर्व्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्व्वविदेहोऽस्ति । तत्र नीलकुलपर्व्वतादक्षिणभागे शीतानद्या उत्तरभागे मेरोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः—
 १. तथाहि—मेरोः पूर्व्वदिशाभागे या पूर्व्वभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति सम्याः पूर्व्वदिग्भागे क्षेत्रं भवति, सदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो यक्षारनामा पर्व्वतो भवति, सदनन्तरं क्षेत्रं तिष्ठति, विभङ्गा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, सम्यादपि यक्षारपर्व्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं, ततोऽपि विभङ्गानदी, सदनन्तरं क्षेत्रं, ततः परं यक्षारपर्व्वतोऽस्ति, सदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो यक्षारपर्व्वतस्ततः क्षेत्रं, सदनन्तरं पूर्व्वसमुद्रसमीपे देवारण्यं तस्य वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—कच्छा १ सुकच्छा २ महाकच्छा ३ कच्छावती ४ आवर्त्ता ५ लाङ्गलावर्त्ता ६ पुष्कला ७ पुष्कलावती ८ चेति । इदानीं क्षेत्रमप्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते । हेमा १ हेमपुरी २ रिष्टा ३ गिष्टपुरी ४ गङ्गा ५ मञ्जुषा ६ औषधी ७ पुण्डरीकिणी चेति ॥

उसी मेरुपर्व्वतसे पूर्व्व दिशामें पूर्व्व पश्चिमको सार्हस हजार योजन विष्कम्भका धारक वेदी-सहित भद्रशाल वन है । उसमें पूर्व्व दिशामें कर्मभूमि संज्ञक पूर्व्व विदेह है । वहां नील नामक युलाचलसे दक्षिण दिशामें और शीता नदीके उत्तर भागमें मेरुकी प्रदक्षिणा रूप जो क्षेत्र हैं उनके विभागोंका कथन करते हैं । सो इस प्रकार है—मेरुसे पूर्व्वदिशाके भागमें जो पूर्व्वभद्रशालवनवेदी वेदिका स्थित है, उससे पूर्व्व दिशाके भागमें प्रथम क्षेत्र है, उसके पीछे दक्षिण उत्तर लंबा यक्षार नामक पर्व्वत है, उसके पीछे क्षेत्र है, उसके भी आगे विभंगा नाम नदी है, उससे भी आगे क्षेत्र है, उस क्षेत्रके अनन्तर भी यक्षार पर्व्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर भी विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् यक्षार पर्व्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, उससे आगे फिर विभंगा नदी और फिर क्षेत्र है, उससे आगे फिर यक्षार पर्व्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनन्तर पूर्व्व समुद्रके पास जो देवारण्य नामक वन है; उसकी वेदिका है । ऐसे नौ भित्तियों (दीवारों) से आठ क्षेत्र जानने चाहिये । उनके क्रमसे नाम कहते हैं—कच्छा १, सुकच्छा २, महाकच्छा ३, कच्छावती ४, आवर्त्ता ५, लाङ्गला-वर्त्ता ६, पुष्कला ७, और पुष्कलावती ८, ऐसे यह क्रमानुसार आठों क्षेत्रोंके नाम हैं । अब क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित जो नगरियें हैं, उनके नाम कहते हैं । ये क्रमसे हेमा १ हेमपुरी २ रिष्टा ३ गिष्टपुरी ४ गङ्गा ५ मञ्जुषा ६ औषधी ।

अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणदिभागे निम्नपर्वतादुत्तरदिभागे यत्पर्वश्रेणी इव इ
 ध्यन्ते । तथाया—पूर्वांश या देवारण्यवेदिका तस्याः पश्चिमभागं श्रेणमन्त्र, इत्यं
 वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्यादक्षारपर्वतस्ततः परं, तं
 विभङ्गा नदी ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततः क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं
 ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वभद्रशास्त्रपर्वतवेदिका मन्त्रानि नदी
 मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि शान्त्यानि । इदानीं तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—वज्रा १, सुवज्रा
 महावज्रा ३, वज्रावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७, मङ्गलावती ८ चेति । अन्त
 रन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते—सुमीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रमाकरी
 अङ्का ५, पद्मा ६, शुभा ७, रत्नसंचया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यानं मनन् ।

इसके आगे शीता नदीसे दक्षिण भागमें निपथ पर्वतमे उत्तर भागमें जो आठ क्षेत्र
 उनको कहते हैं । वे इस प्रकार हैं—पहले कही हुई जो देवारण्यकी वेदी है उसके पश्चि
 भागमें क्षेत्र है, तदनन्तर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, तन्
 पश्चात् क्षेत्र है वक्षार पर्वत है, और फिर क्षेत्र है, तत्पश्चात् विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है
 पुनः वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, फिर
 वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उससे आगे मेरुकी (उत्तर) दिशाके भागमें पूर्वभद्रशा
 स्त्रकी वेदी है । ऐसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र जानने योग्य हैं । उन क्षेत्रोंके कर्ण
 नाम कहते हैं—वज्रा १, सुवज्रा २, महावज्रा ३, वज्रावती ४, रम्या ५, रम्यका ६,
 रमणीया ७ और मंगलावती ८ । अब उन क्षेत्रोंमें स्थित जो नगरिये हैं उनके नाम इतने
 हैं—सुमीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रमाकरी ४, अंका ५, पद्मा ६, शुभा ७, और
 रत्नसंचया ८ । इस प्रकार पूर्वविदेहक्षेत्रके विभागोंका व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

अथ मेरोः पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वारविशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिमभद्रशालवनन्
 त्तरं पश्चिमविदेहस्तिष्ठति । तत्र निपथपर्वतादुत्तरदिभागे शीतोदानया दक्षिणभागे बार्द
 क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते । तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिमभद्रशालवनवेदिका विदेह
 तस्याः पश्चिमभागं क्षेत्रं भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तरं क्षेत्रं,
 ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं
 ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पश्चिमसमुद्रसमीपे यद्भूतारण्यवनं तिष्ठति तत्र
 वेदिका चेति नवमित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषां नामानि कथ्यन्ते । पद्मा १, सु
 पद्मा २, महापद्मा ३, पद्माकावती ४, शंखा ५, नखिना ६, कुमुदा ७, सलिला ८ चेति । अन्त
 र्न्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथयन्ति—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४,
 अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७, विशोकापुरी ८ चेति ॥

अथ मेरुमे पश्चिम दिशाके भागमें पूर्व पश्चिममें बार्दम हजार योजन विष्कम्भका पश्चि
 पश्चिम भद्रशालवनके पश्चात् पश्चिम विदेह है । वहा निपथ पर्वतसे उत्तरके विभागमें और
 शीतोदा नदीके दक्षिण विभागमें जो क्षेत्र हैं, उनका विभाग कहा जाता है । सांही दिशाके

द्वे विभाग (उपखण्ड) भागमें जो पश्चिम भद्रशाळवनकी वेदिका है, उसके पश्चिम
 क्षेत्र है, उसके पूर्व विभाग उत्तर तथा पश्चिम पर्वत है, उसके अनन्तर क्षेत्र है,
 फिर विभगा नदी है, और फिर क्षेत्र है, उसके आगे पश्चिम पर्वत है, उसके पश्चात् क्षेत्र
 है, फिर विभगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उस क्षेत्रके पश्चात् पश्चिम पर्वत है,
 पश्चात् क्षेत्र है, उसके अनन्तर पश्चिम शमुद्रके समीपमें जो गुणगण्य नामक वन है उसकी
 दिशा है । ऐसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र होने हैं । उनके नाम कहते हैं,—पद्मा १,
 सुवमा २, महावपा ३, यमकावती ४, गन्धा ५, गन्धिका ६, गुग्गुला ७, और सन्धिका ८ ।
 इन क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित नगरियोंके नाम कहते हैं । अधपुरी १ मिहपुरी २ महापुरी
 ३ विजयपुरी ४ अरजापुरी ५ विरजापुरी ६ असोकपुरी ७ और विशोकपुरी ८ ॥

अब ऊर्ध्व हीनोदाया कक्षरभागे नीलवृत्तपर्वतादक्षिणे भागे याति क्षेत्राणि तिष्ठन्ति
 तेषां विभागभेदं कथयति । पूर्वभगिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्याः पूर्वभागे क्षेत्रं भवति ।
 अनन्तरं पश्चिमपर्वतान्तरं क्षेत्रं, ततो विभगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो पश्चिमपर्वतः, ततश्च
 क्षेत्रं, ततश्च विभगा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो पश्चिमपर्वतान्तः क्षेत्रं, ततो विभगा नदी, ततः
 क्षेत्रं, ततश्च पश्चिमपर्वतान्तः क्षेत्रं, ततो मेददिशाभागे पश्चिमभद्रशाळवनवेदिका चेति नव-
 भित्तियु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—पद्मा १, सुवमा २, महा-
 वपा ३, यमकावती ४, गन्धा ५, गुग्गुला ६, गन्धिका ७, गन्धमालिनी ८ चेति । तन्मध्ये-
 स्थितनगरिणां नामानि कथ्यन्ते । विजया १, वैजयन्ती २, जयन्ती ३, अपराजिता ४, च-
 क्रपुरी ५, स्रष्टपुरी ६, अवध्या ७, अवध्या ८ चेति ॥

अब इसके अनन्तर शीतोदक उत्तर भागमें और नील वृत्ताचलते दक्षिणभागमें जो
 क्षेत्र है उनके विभाग भेदका वर्णन करते हैं । पहले कही हुई जो भूतारण्यवनकी वेदिका
 है उसके पूर्वभागमें क्षेत्र है १ और उसके पश्चात् पश्चिम नामा पर्वत है, उसके अनन्तर पुनः
 क्षेत्र है २ उसके पश्चात् विभगा नदी है, उसके पश्चात् पुनः क्षेत्र है ३ उसके पश्चात् पुनः
 पश्चिम पर्वत है, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र है ४ उसके पश्चात् पुनः विभगा नदी है, उसके
 अनन्तर पुनः क्षेत्र है ५ उसके पश्चात् पुनः पश्चिम पर्वत है, उसके पश्चात् पुनः क्षेत्र है ६
 उसके पश्चात् पुनः विभगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है ७ उसके पश्चात् पश्चिम पर्वत है,
 उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र है ८ उसके अनन्तर मेरुकी दिशाके भागमें पश्चिम भद्रशाळवनकी
 वेदिका है । इस रीतिमें नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र हैं । अब क्रमसे उनके नाम कहते
 हैं—पद्मा १ सुवमा २ महावपा ३ यमकावती ४ गन्धा ५ गुग्गुला ६ गन्धिका ७ और गन्ध-
 मालिनी ८ ये आठ क्षेत्र हैं । अब उन क्षेत्रोंके मध्यमें वर्तमान नगरियोंके नाम कहते हैं ।
 विजया १ वैजयन्ती २ जयन्ती ३ अपराजिता ४ चक्रपुरी ५ स्रष्टपुरी ६
 और अवध्या ८ ये क्रमसे हैं ॥

११४०० इति नक्षत्रमण्डलम् । उक्त नक्षत्रमण्डलके बायु भागमें चार लाख योजन गोक वि-
 चित्रः धरुव धातकीगंड द्वीप है । और धातंग दक्षिण भागमें लवणोदधि और कालोदधि
 ल दोनो मनुद्वीपी वेदिकाको स्थान करनेपाला, दक्षिणमें उतरकी ओर संघा, एक हजार
 मीलन दिक्कंभका धारक तथा चारगो योजन ऊंचा इन्धकारनामा पर्वत है । और इसी म-
 ण्डल उतर भागमें भी एक इन्धकार पर्वत है । इन दोनो पर्वनोसे संडरूप हुए ऐसे, पूर्व-
 धातकीगंड तथा पश्चिमधातकीगण्ड ऐसे दो गंड जानने चाहिये । उनमें जो पूर्वधातकी-
 गंड नामा द्वीप है उसके मध्यमें चारगो हजार योजन ऊंचा और एक हजार योजन
 लम्बा छोटा मेरु है । और उभी प्रकार पश्चिमधातकीगंडमें भी एक छोटा मेरु है ।
 और जैम जंजूरीपके मारोममें भ्रम आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी
 और पद्म आदि नदीका दक्षिण उतर रूपमें व्याख्यान किया है; वैसे ही इस पूर्वधातकी-
 गंडके मेरु और पश्चिमधातकीगंडके मेरुमें जानना चाहिये । और इसी कारण धातकी-
 गण्डमें जंजूरीपकी अपेक्षा विनयीमें ही भरत आदि दूने होते हैं; परन्तु विस्तार तथा आया-
 मकी अपेक्षामें नहीं । और जो सुन्दरपर्वत है वे तो विस्तारकी अपेक्षा ही द्विगुण हैं न कि,
 आयाम (संघार) की अपेक्षामें । उक्त धातकीगण्डद्वीपमें जैसे चक्रके आरा होते है वैसे
 आकारके धारक कुलाचल है । और जिम प्रकार चक्रके आरोंके छिद्र भीतरसे तो संकीर्ण
 (मकड़े) होते हैं और बाह्य देगमें विस्तीर्ण (बड़े) होते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रोंको समझना
 चाहिये ॥

इयंभूमं धातकीगण्डद्वीपमण्डलक्षयोजनबलयविविक्कम्भः कालोदकसमुद्रः परिवेष्टा तिष्ठति ।
 तन्माद्रिभागं योजनलक्षाष्टके गन्धा पुष्करद्वीपस्य षडयाकारेण चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तर-
 नामा पर्वतमिच्छति । तत्र पुष्करार्धेऽपि धातकीगण्डद्वीपवद्विषोत्तरेणेन्धकारनामपर्वतद्वयं
 पूर्वापरेण शुककमेरुद्वयं च । तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च योद्धव्यः । परं किन्तु जम्बूद्वीपभर-
 तादिदमन्यापेक्षया भरतक्षेत्रादिद्विगुणत्वं न च धातकीगण्डापेक्षया । कुलपर्वतानां तु धातकी-
 गण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विक्कम्भ आयामश्च । तस्मैधममाणं पुनर्दक्षिणभागे विजयार्ध-
 पर्वतं योजनानि पञ्चविंशतिः, हिमवति पर्वतं दानं, महाहिमवति द्विशतं, निपथे चतुःशतं,
 तथोत्तरभागे च । मेरुसमीपगजदन्तेषु शतपञ्चकं, नदीसमीपे षडोरुषु शान्त्यनिपथनील-
 ममीपे चतुःशतं च, शेषपर्वतानां च मेरुं त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणितं तदेवार्धेऽतीवृष्यद्वी-
 पेऽपि विज्ञेयम् । तथा नामानि च क्षेत्रपर्वतनदीदेवानगरादीनां साम्येव । तथैव प्रोक्तद्वयो-
 र्मेषा पञ्चशतधनुर्विस्तारा पश्चारागच्छमयी वनादीनां वेदिका सर्वत्र समानेति । अत्रापि च-
 षाकारवत्पर्वता आरविवरसंस्थानानि क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग
 एव मनुष्यानिष्ठान्ति न च बहिर्भागे । तेषां च जघन्यजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण
 पत्न्यप्रयं, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवन्त्या निरक्षा च । एवमसंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिग्लो-
 कमध्येऽर्धेऽतीवृष्यद्वीपप्रमाणं सक्षेपेण मनुष्यलोको व्याख्यानः ॥

ही चन्द्र ही सूर्य है । इनके अनन्तर भ्रमण और पेंगवतमें स्थित जो जम्बूद्वीपके चन्द्र
 १५ सूर्य है उनका वृत्त योदागा विवरण करते हैं । यह इस प्रकार है—जम्बूद्वीपके भीतर
 (इसमें अग्नी और वायु भागमें अर्थात् लवण समुद्रके संबंधमें तीनसौ तीस योजन ऐसे
 दोनो दिग्गके पांचसौ दश योजन प्रमाण सूर्यका चारक्षेत्र (गमनका क्षेत्र) कहलाता है ।
 जो चन्द्र तथा सूर्य इन दोनोंका एक ही है । इनमें भरतक्षेत्रमें वायु भागमें उस चारक्षेत्रमें
 सूर्यके पश्चिमी चींगामी मार्ग होने है और चन्द्रमाके पन्द्रह ही मार्ग है । उनमें जम्बूद्वीपके
 भीतर कर्कट संक्रान्तिके दिग्ग जब कि दक्षिण अयनका प्रारंभ होता है तब निपथ पर्वतके
 ऊपर प्रथम मार्गमें सूर्य प्रथम उदय करता है । जहांपर सूर्यके विमानमें वर्तमान जो नि-
 क्षेप परमान्मा धीजिनेन्द्र है उनके अष्टाग्रिम जिनविचको अयोध्या नगरमें स्थित भरत-
 क्षेत्रका चक्रपत्नी निर्मल मध्यवर्त्यके अनुरागसे अवलोकन करके, पुष्पांजलि उछालकर, अर्प
 देता है । उस प्रथम मार्गमें स्थित जो भरतक्षेत्रका सूर्य है उसका ऐरावत क्षेत्रके सूर्यके
 साथ तथा चंद्रमाका चंद्रमाके साथ और भरतक्षेत्रके सूर्य चंद्रमाओंका मेरुके साथ जो अ-
 न्तर (फामन्ना व दूरी) रहता है यह विशेषतासे आगमोंसे जानना चाहिये ॥

अथ “ मद्भिस भरणी अहा सादी असलेस जेठुमवरवरा । रोहिणिविसहपुणव्वसु तिउ-
 त्तरा मग्गिमा वेसा ११” इति गाथाकथितक्रमेण यानि जघन्योत्कृष्टमध्यनभ्रत्राणि तेषु मध्ये
 कस्मिन्नक्षत्रे कियन्ति दिनान्यादित्यस्तिष्ठतीति । “ इंदु रवीशे रिक्कया सत्तट्टियपंचगयणसंड-
 हिया । अहियहिदरिक्कखंडा इंदुरविअत्यण्णमुहसा ११” इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक्र-
 मेण पृथक्पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकपष्टियुतत्रिंशत्संख्यदिनानि भवन्ति । तस्य
 दिनममूहापर्यं यदा द्वीपाभ्यन्तरादक्षिणेन बहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति तदा दक्षिणायन-
 संज्ञा, यदा पुनः समुद्रारसकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरभागेषु समायाति तदोत्तरायणसंज्ञेति । तत्र
 यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारंभे तिष्ठत्यादित्यस्तरा
 चतुर्णवतिसहस्रपञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशतप्रमाण उत्कृष्टेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातप-
 विस्तारो होयः । तत्र पुनरष्टादशसहस्रांश्वसो भवति द्वादशसहस्रांश्व रात्रिरिति । ततः क्रमेणात-
 पक्षानौ मत्यां सहस्रांश्वैकपष्टिभागीहनस्यैको भागो दिवसमध्ये दिनं प्रति हीयते यावत्तव-
 णसमुद्रोत्थसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तायुत्तरायणदिवसे त्रिपष्टिमहस्राधिकरोडशयोजन-
 प्रमाणो जघन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो भवति । तथैव द्वादशसहस्रांश्वसो भ-
 वत्यष्टादशसहस्रांश्व रात्रिक्षेति । शेषं विशेषव्याख्यानं लोकाविभागादौ विशेषम् ।

अथ “ शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाती, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये छः नक्षत्र जघन्य हैं । रो-
 हिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, और उत्तराभाद्रपद ये ६ नक्षत्र उत्कृष्ट
 हैं । इनके अतिरिक्त शेष जो नक्षत्र है वे मध्यम हैं ११ । इस गायामें कहे हुए क्रमके
 अनुसार जो जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमें किस नक्षत्रमें कितने दिन सूर्य
 टहरता है सो कहते हैं “ चंद्र १७६८, सूर्य १८३५ और नक्षत्र १८४० गगन संडमें

एक मुहूर्त्तमें गमन करते हैं सो अधिक भागोंसे नक्षत्रखंडोंके भाग देनेसे जो ३६३ होते हैं उन प्रमाण एक नक्षत्रपर चंद्र और सूर्यकी स्थिति जानो. इस प्रकार इन चंद्र कहे हुए क्रमसे भिन्नभिन्न दिनोंको लेकर, उनको जोड़नेसे तीनसो छालठ ३६६ दिन होते हैं। जब द्वीपके भीतरसे दक्षिण दिशाके बाह्य मार्गमें सूर्य गमन करता है तब तीनसो छालठ दिनोंके आधे जो एकसो तिरासी १८३ दिन हैं उनकी दक्षिणायन क्रम होती है, और इसी प्रकार जब सूर्य - समुद्रसे उत्तर दिशाको अभ्यन्तर मार्गमें अर्ध तब शेष जो १८३ दिन हैं उनका उत्तरायण यह नाम होता है। उनमें जब द्वीपके अन्तर भागमें कर्कट संक्रान्तिके दिन दक्षिण अयनके प्रारंभमें सूर्य प्रथम मार्गकी परिधिमें होता है तब चौरानवे हजार पांचसो पचीस योजन प्रमाण सूर्यके विमानका पूर्व पश्चिम आतप (धूपका) विस्तार (फैलाव) होता है यह जानना चाहिये। और उस समय अर्ध मुहूर्त्तसे दिन और बारह मुहूर्त्तसे रात्रि होती है। फिर यहाँसे क्रम क्रमसे आतपकी इति होनेपर दो मुहूर्त्तोंके इकसठ भागोंमेंसे एक भाग प्रतिदिन दिवसमें घटता है। यह घटता घटता है जबतक कि लवणसमुद्रके अन्तके मार्गमें माघमासमें मकर संक्रान्तिमें उत्तम दिवसके प्रारंभमें जघन्यतासे सूर्यके विमानका आतप विस्तार त्रैसठ हजार सोलह कोश प्रमाण होता है। उस समय उसी प्रकार बारह मुहूर्त्तोंसे दिन और अठारह मुहूर्त्तोंसे रात्रि होती है। इसके अतिरिक्त अन्य जो विशेष वर्णन है सो लोकविभाग आदिमें वर्णन चाहिये ॥

ये तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नालि। ते च मानुषोत्तरपर्वतः
हिर्भागे पश्चाशतसहस्राणि योजनानां गत्वा बलयाकारं पङ्क्तिरूपेण पूर्वक्षेत्रं पवित्रेषु तिष्ठन्ति।
तत्र प्रथमवलये चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाश्चन्द्रास्तथादित्याश्चान्तरान्तरेण विद्यन्ति।
ततः परं योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण चलनं भवति। अयन्तु विशेषः—बलये बडे
चन्द्रचतुष्टयं सूर्यचतुष्टयं च वर्धते यावत्पुष्करार्धवर्धहिर्भागे बलयाष्टकमिति। ततः पुष्करासु
द्रपर्वते बेंदिकायाः सप्ताशतपश्चाशतसहस्रप्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य वापूरं वा
रिंशदधिकशतप्रमाणं प्रथमवलयं व्याप्यातं सप्ताद्द्विगुणसंख्यायं प्रथमवलयं भवति। ततः
न्तरं पूर्ववद्योजनलक्षे लक्षे गते बलयं भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्टयस्य च सृष्टिदिने
नैव क्रमेण म्वयभूरमणसमुद्रबहिर्भागे बेंदिकापर्यन्तं ज्योतिष्कदेशानामवस्थानं बोद्धव्यं।
एते च प्रतरामंक्ष्येयभागप्रमिता भमंक्ष्येया ज्योतिष्कविमाना अहृदिमसुवर्णमपत्रप्र
जिनर्षेनालयमण्डिता ज्ञानव्याः। इति साक्षेपेण ज्योतिष्कलोकव्याख्यानं समाप्तम् ॥

और जो मनुष्यक्षेत्र (दाईं द्वीप)से बहिर्भागमें ज्योतिष्कविमान हैं उनका चतुर/सप्त
वर्दी है; तथा वे मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य भागमें पचास हजार योजन गमन कर, बलया
(गोलाकार) पंक्तिरूप क्रममें पूर्व (पश्चिम) क्षेत्रको घेर (घेर) कर, रहते हैं। उनमें
जो प्रथम बलय है उनमें एकसो चत्वारिंशत् १५४ चन्द्रमा तथा सूर्य अन्तरान्तर (दाईं)

। निश्चय करते हैं । उसके पश्चात् एक एक सत्य योजन चने जानेपर इसी पूर्वोक्त क्रमा-
 क्रम बतल्य होता है । और विशेष यह है कि बतल्य २ (हर एक बतल्य)में चार चन्द्रमा
 तथा चार सूर्य बतल्ये हैं भी ये पुष्करार्थके साक्ष भागमें जो आठ बतल्य हैं वहांतक बढ़ते
 हैं । उसके पश्चात् पुष्कर समुद्रके भवेदागमें जो वेदिका है उससे पचास हजार योजन प्रमाण
 लम्बागमें जाकर, जो परसे प्रथम बतल्यमें एकगो चवानीस चन्द्र तथा सूर्योका कथन किया
 । उसके त्रिगुण अर्थात् दोसो अष्टांगी चन्द्रमा और सूर्योका धारक प्रथम बतल्य है । उसके
 पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक एक सत्य योजन चने जानेपर बतल्य है और प्रत्येक बतल्यमें
 चार चन्द्रमा और चार सूर्योकी वृद्धि होती है । सो इसी क्रमसे स्वयंभूरमण समुद्रके अन्तकी
 दिक्ता पर्यन्त ज्योतिष्कदेवोंका निवास जानना चाहिये । और ये सब प्रतरके असंख्यातवै
 त्त्य प्रमाण अगम्यात् ज्योतिष्कविमान अदृशिम सुवर्ण तथा रत्नमय जो जिनचैत्यालय हैं
 नते श्रुति है देमा समस्तना चाहिये । इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष्क लोकका वर्णन स-
 त्त हुआ ॥

अथानन्तरमूर्ध्वलोकः कथ्यते । तथाहि सौषमैशानसनन्तुमारमाहेन्द्रमद्भ्रमद्भोत्तरलान्तव-
 विष्टसुक्रमदाशुक्रशतारसहस्रारानतप्रमाणतारणाच्युतसंज्ञाः षोडश स्वर्गालतोऽपि नवमैवेय-
 संज्ञास्तत्र नवानुदिशगंशं नक्षत्रिमानसंख्यमेकपटलं ततोऽपि पञ्चानुत्तरसंशं पञ्चविमान-
 त्यमेकपटलं चतुष्कमेणोपपुं परि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्तिकं सङ्गहवाक्ये समुदा-
 बधनमिति यावत् । आदिमभ्यान्तेषु द्वादशाष्टपतुयोजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमि-
 योजनोत्सेधा या मेरुशूलिका तिष्ठति तस्योपरि कुरुभूमिजमरयेवालापान्तरितः पुनश्चैत्रुवि-
 निर्मलि । तदादि वृत्तवा शूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाण मेरुत्सेधमानमर्द्धाधिकैकरज्जुप्रमाणं
 द्वादशाक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौषमैशानसंशं स्वर्गयुगलं तिष्ठति । ततः परमर्द्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं
 नन्तुमारमाहेन्द्रसंशं स्वर्गयुगलं भवति, तस्माद्द्वैरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं प्रद्भ्रमद्भोत्तराभिधानं
 त्रिगुणमस्ति, ततोऽप्यर्द्धैरज्जुपर्यन्तं लान्तवक्रापिष्टनामस्वर्गयुगलमस्ति, ततश्चाद्वैरज्जुपर्य-
 ण्णुक्रमदाशुक्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनन्तरमर्द्धैरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंशं स्वर्ग-
 युगलं भवति, ततोऽप्यर्द्धैरज्जुपर्यन्तमानतप्रमाणतनामस्वर्गयुगलं, ततः परमर्द्धैरज्जुपर्यन्तमा-
 शं यावदाण्णाच्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति । तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीयस्वकीय-
 र्णनःमानश्चत्वार इन्द्रा विशेषाः, मध्ययुगलचतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान ए-
 क एवंन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वर्गेनामानश्चत्वार इन्द्रा भवन्तीति
 सुदायंन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः । षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेकरज्जुमध्ये नवमैवेयकन-
 त्रिदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति । ततः परं तत्रैव द्वादशयोजनेषु गतेष्वष्टयो-
 नवाहृत्या मनुष्यलोकवत्पञ्चाधिकचत्वारिंशत्लक्षयोजनवितारा मोक्षशिला भवति । तस्योप-
 रः धनोदधिघनवाततनुवातत्रयमस्ति । तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाघनन्तगुणस-
 ताः सिद्धास्तिष्ठन्ति ॥

अब इसके अनंतर ऊर्ध्वलोकका कथन करते हैं । यह इस प्रकार है—सौषम, ईशान,

अन्तवकापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयोः पटनमेकम्, क्षतारसदक्षार-
 णिकम्, आनतमानयोश्चयम्, आरणापुनयोर्मयमितानवसु भवेयकेषु नवके, नवानुदिशेषु
 नोके, पञ्चानुचरोषु चैकमिति समुदायेनोपमुंपरि त्रिपष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि । तथा चोक्तं
 इगणितगणपचारिदोषिणाएवंकटकबहुकल्पे । तिस्रियएकेकिदियणामा षड् आदि तेवदुी ॥

अब स्वर्गके पटनोंकी संख्याका वर्णन करते हैं । सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गोंमें
 ११ पटल है, सनत्कुमार तथा मतेन्द्रमें सात ७ पटल है, ब्रह्म और ब्रह्मोपरमें
 १२ पटल है, अन्तव तथा कापिष्टमें दो पटल हैं, शुक्र और महाशुक्रमें एक पटल
 , क्षतार और सदक्षारमें एक पटल है, आनन तथा प्राणनमें तीन पटल है और आरण
 या अच्युत इन दो स्वर्गोंमें भी तीन पटल हैं । नव भ्रैवेयकोमें नव ९ पटल हैं, नव
 अनुदिशोंमें एक पटल है, और पंचानुचरोमें एक पटल है। ऐसे समुदायसे ऊपर ऊपर तिर-
 ट ६३ पटल जानने चाहिये । सोही कहा है—“सौधर्म युग्ममें ३१, सनत्कुमार युगलमें
 , ब्रह्मयुगलमें ४, अन्तव युग्ममें २, शुक्र युग्ममें १, क्षतार युग्ममें १, आनत आदि
 १२ स्वर्गोंमें ६, मत्केक तीनों भ्रैवेयकोमें तीन २, नव अनुदिशोंमें एक, पंचानुचरोमें एक,
 १ समुदायसे ६३ इन्द्र होते हैं,—

अनपरं प्रथमपटलव्याख्याने क्रियते । ऋजु विमानं यदुक्तं पूर्वं मेरुचूलिकाया उपरि
 य मनुष्यक्षेत्रप्रमाणविस्तारम्येन्द्रकः संज्ञा । तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनविस्ताराणि पङ्क्ति-
 णेन सर्वद्वीपसमुद्रेषुपरि प्रतिदिशं धानि त्रिपष्टिर्विमानानि तिष्ठन्ति तेषां भेणीवद्वसंज्ञा ।
 नि च पङ्क्तिरदित्युपप्रकरश्चद्विदिक्चतुष्टये तिष्ठन्ति तेषां संख्येयासंख्येययोजनविस्ताराणां
 निष्कर्षसंज्ञेति समुदायेन प्रथमपटललक्षणं ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वापरदक्षिणभेजिप्रथविमान-
 नि । तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसंबन्धीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि च
 शीशानसंबन्धीनि । अगतापटलादुपरि जिनदृष्टमानेन संख्येयान्यसंख्येयानि योजनानि
 ग तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति । अयं च विशेषः—भेणीचतुष्टये पटले पटले
 दिशामेकैकविमानं हीयते यावत्पञ्चानुचरपटले चतुर्दिश्वैकैकविमानं तिष्ठति । एते
 धर्मादिविमानाश्चतुरशीतिखसप्रनवतिसहस्रत्रयोविंशतिप्रमिता अष्टत्रिमसुवर्णमयजिन-
 मण्डिता ज्ञातव्या इति ।

इसके आगे प्रथम पटलका व्याख्यान किया जाता है । जो पहले मेरुकी चूलिकाके
 र ऋजु विमान कहा गया है उस मनुष्यक्षेत्र (दार्द्वीप) प्रमाण विस्तारके धारक ऋजु
 तनकी इन्द्रक यह संज्ञा है । उसकी चारों दिशाओंके भागमें जो मत्केक दिशामें सब
 । समुद्रोंके ऊपर असंख्यात योजन विस्तारके धारक पंक्तिरूपसे तिरसठ ६३ विमान
 इनकी भेणीवद्व संज्ञा है । और जो विमान पंक्तिमे बिना पुष्पोंके प्रकरके समान
 : विदिशाओंमें हैं उन संख्यात, असंख्यात योजन प्रमाण विस्तारवाले विमानोंकी प्रकी-
 : संज्ञा है । ऐसे समुदायसे प्रथम पटलका लक्षण जानना चाहिये विगानोंमें

जो पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियोंके विमान हैं वे, और इन तीनों बीचमें जो दो विदिशाओंमें स्थित विमान हैं ये सब प्रथम सौषर्मे स्वर्ग संबंधी हैं। शेष दो विदिशाओंके विमान और उत्तर श्रेणीके विमान जो हैं वे ईशान स्वर्ग संबंधी हैं। इस पटलके ऊपर भगवान् करके देखे हुए प्रमाणके अनुसार संख्यात तथा अंतर्गत जन जाकर इसी पूर्वोक्त क्रमसे द्वितीय, तृतीय, आदि पटल होते हैं। और विद्वेष्टा कि पटल पटलमें प्रत्येक दिशाकी प्रत्येक श्रेणीमें एक २ विमान घटता है सो सब घटता है कि पंचानुत्तर पटलमें चारों दिशाओंमें एक एक ही विमान रह जाता है। ये सब सौषर्मे स्वर्ग आदि संबंधी विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तैर्दश ८४९३०० संख्या प्रमाण हैं। और अकृत्रिम सुवर्णमय जिनचैत्यालयोंसे मंडित हैं ऐसे जानने हैं।

अथ देवानामायुःप्रमाणं कथ्यते । भवनवासिषु जपन्त्येन दशवर्षसहस्राणि, एते पुनरगुरुकुमारेषु सागरोपमम्, नागकुमारेषु पत्यत्रयं, सुपर्णं सार्धद्वयं; द्वीपकुमारे इति, ते कुलपट्टके सार्धपत्यमिति । व्यन्तरे जपन्त्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पत्यनरिषीं ज्योतिष्कदेवे जपन्त्येन पत्याष्टमविभागः, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षवर्षाधिकं पत्यं, सूर्ये सप्तधिकं पत्यं, शेषज्योतिष्कदेवानामागमामानुसारेणेति । अथ सौषर्मेशानयोर्जपन्त्येन कति पत्यं, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वयं, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः साधिकसागरोपममर्षं, प्रमोत्तरयोः साधिकसागरोपमदशकं, लान्तयकापिष्ठयोः साधिकानि पतुर्दशमागरोपमे एकमशानुक्रयोः षोडश साधिकानि, शतारसहस्रारयोरष्टादश साधिकानि, आनन्तयोः त्रिंशतिषु, भावणाध्युनयोर्द्वात्रिंशतिरिति । अतः परमच्युतादूर्ध्वं कल्पानीतनसंतीर्णं द्वात्रिंशतिमागरोपमप्रमाणादूर्ध्वमेकैकसागरोपमे वर्धमाने सत्यैकत्रिंशतमागरोपमान्वाच्यं वर्धयेवंकं भवति । नवानुदिशपटले द्वात्रिंशत्, पञ्चानुत्तरपटले त्रयस्त्रिंशत्, इत्युत्तरपटलं ज्ञानध्यम् । तदायुः सौषर्मादिषु स्वर्गेषु मदुत्कृष्टं तत्परमित् परमित् सर्वेषु संसिद्धिं विश्वाय जपन्त्यं चेति । शेषं विशेषण्याकथानं त्रिलोकसारानी बोद्धव्यम् ॥

अथ देवैर्देवैः आयुः प्रमाणं कथ्यते । भवनवासियोंमें न्यूनसे न्यून दश हजार वर्ष जपन्त्य आयु होता है और उत्कर्षेण अगुरकुमारोंमें एक सागर, नागकुमारोंमें तीन पत्त सुपर्णकुमारोंमें दार्द पत्य, द्वीपकुमारोंमें दो पत्य और बाही जो ६ मच्छारके मानाती उनमें दैर् पत्य प्रमाण आयु है । व्यन्तरीमें दश हजार वर्षका जपन्त्य और कुल प्रति एक पत्यका उत्कृष्ट आयु है । ज्योतिष्क देवोंमें जपन्त्य आयु पत्यके आठवें भाग इत्य है, उत्कृष्टतमसे चंद्रमामें एक पत्य एक लान्त वर्ष और सूर्यमें एक पत्य एक हजार वर्ष आयु है । शेष ज्योतिष्क देवोंका उत्कृष्ट आयु आगमके अनुसार जनना करि है। स कल्पजपित्तमें जो सौषर्मे तथा ईशान स्वर्गके देव हैं उनके जपन्त्यतम कुल प्रति एक पत्य और उत्कृष्टतमसे कुल अधिक दो सागर प्रमाण आयु है । नवानुत्तर पटलके उत्कृष्टतमसे कुल प्रति एक पत्य सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है । प्रसा और प्रमोत्तरोंमें

धिक दश सागर, लांतव कापिटमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक महाशुकमें कुछ अधिक सोलह सागर, रातार और सहस्रारमें किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा णितमें पूरे बीसही सागर, और आरण अच्युतमें बाईस २२ सागर प्रमाण आयु है ।
 व इसके अनंतर अच्युत स्वर्गके ऊपर कल्पातीत जो नव प्रवेयक हैं उनमें प्रत्येक प्रवे-
 कमें बाईस सागर प्रमाण आयुमें क्रमानुसार एक एक सागर बग्गये जानेपर अंतके
 वें प्रवेयकमें इकतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु होता है । नौ ९ अनुदिशोंके पटलमें
 तीस सागर और पंचानुचर पटलमें तेतीस सागर जितना उत्कृष्ट आयुका प्रमाण जानना
 चाहिये । और जो आयु सौधर्म आदि स्वर्गोंमें उत्कृष्ट है वह सर्वार्थसिद्धिके विना अन्य
 व स्वर्गोंमें आगे आगे जपन्य है अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्कृष्ट कुछ अधिक
 सागर प्रमाण आयु है वह सनत्कुमार माहेन्द्रमें जपन्य है । इस क्रमसे सर्वार्थसिद्धिके
 इले २ जपन्य आयु जानना । इसके अतिरिक्त जो अधिक व्याख्यान है सो त्रिलोक्यमा
 णदिमेंसे समझना चाहिये ॥

किञ्च आदिमध्यान्तरमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचने-
 तदसौ विम्वानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते दृश्यन्ते शायन्ते परिच्छिद्यन्ते यत्तन्नेन
 ारणेन स एव निश्चयलोकस्तरिभिन्ननिश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स
 िध्यलोकः । "सन्नाओ य तिलेस्सा इंदियवसदाय अट्टकराणि । नाणं च दुप्प वसं मोहो पाव-
 त्तो होदि । १ ।" इति गाथोदितविभावपरिणाममादिं कृत्वा समस्तशुभाशुभसंकरूपविकल्प-
 णेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमादादैकसुरामृततरसाखादानुभवनेन च या भावना शैव
 िध्यलोकानुपेक्षा । शेषा पुनर्यवहारणेत्येवं संक्षेपेण लोकानुपेक्षाव्याख्यानं समाप्तम् ॥

और आदि मध्य तथा अन्तसे रहित, शुद्ध बुद्ध एक स्वभावका धारक जो परमात्मा है
 उसमें सकल (पूर्ण) रूपसे विमल (स्वच्छ) जो केवल ज्ञान नामक नेत्र है उसके द्वारा
 जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बोंका मान होता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ आन्तके
 जाते हैं अर्थात् देखे जाते हैं, जाने जाते हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं इस कारण वह निश्च
 शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोक नामके धारक निश्च शुद्ध पर-
 मात्मामें जो अवलोकन (देखना) है वह निश्चय लोक है । "संज्ञा, तीन लेख्या, इंदियोदि
 वसीभूतपना, आर्च, रीद्र, ध्यान तथा दुप्पयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापको देनेवाले
 होते हैं ।" इस गाथामें कहे हुए विभाव परिणामको आदि लेके, संपूर्ण जो शुभ तथा अनुभ
 रूप संकरूप विकल्प हैं उनके त्यागसे और निजशुद्ध आत्माकी भावनामें उत्पन्न जो परम
 आदादरूप एक सुस्वरूपी अमृतके आस्तादका अनुभव है उससे जो भावना होती है वही
 निश्चयसे लोकानुपेक्षा है । और इसके अतिरिक्त शेष जो पूर्वोक्त भावना है वह व्यवहारने
 है । इस प्रकार संक्षेपसे लोकानुपेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ॥

अथ दुर्लभानुपेक्षां कथयति । तथाहि एकेन्द्रियविकल्पेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंस्तरपयोत्तममुत्प-

.

.

.

.

.

.

.

.

.

योगियोंके राग आदिकी शून्यतापूर्वक जो ससंबंध (निजके अनुभवसे जानने योग्य) आत्माका सुख है वह विशेष करके अतीन्द्रिय है । और भावकर्म तथा द्रव्यकर्मोंसे रहित, तथा संपूर्ण आत्माके प्रदेशोंमें आल्हादका जनक ऐसा जो पारमार्थिक परम सुख है उसमें परिणत ऐसे शुक्त जीवोंके जो अतीन्द्रिय सुख है वह अत्यन्त विशेषतासे अतीन्द्रिय जानना चाहिये । अब यहांपर शिष्य कहता है कि हे गुरो, संसारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बंध होता है और इसी प्रकार कर्मोंका उदय भी सदा होता रहता है इस कारण शुद्ध आत्माके ध्यानका प्रस्ताव (प्रसंग) ही नहीं है फिर उनका मोक्ष कैसे होता है ? अब इस शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हैं कि जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रुकी क्षीण अवस्थाको देखकर, अपने मनमें विचार करता है कि यह मेरे मारनेका प्रस्ताव है अर्थात् शत्रु दुर्बल है इसलिये यह अवसर शत्रुको मारनेका है, और इस विचारके पश्चात् उद्यम करके, वह बुद्धिमान् अपने शत्रुको मारता है; इसी प्रकार कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती इस कारण स्थितिबंध और अनुभागबंधकी न्यूनता होनेसे जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव भाषासे “क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पांच लब्धियें हैं. इनमें चार तो सामान्य हैं और पांचवीं सम्यक्त्वचारित्र्यमें होती है” इस गाथासे कही हुई पांच लब्धियों नामक तथा अध्यात्म भाषासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणाम नामक जो निर्मल भावना विशेषरूप राग है उससे पौरुष करके कर्मशत्रुको नष्ट करता है । और जो अन्तः कोटाकोटि प्रमाण कर्मस्थितिरूप तथा इसी प्रकार लताकाष्ठके स्थानापन्न अनुभाग रूपसे कर्मोंका लघुत्व (क्षीणत्व) होनेपर भी यह जीव आगमभाषासे अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिष्ट-तिकरण नामक तथा अध्यात्मभाषासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणामरूप जो कर्मोंको नष्ट करनेकी बुद्धि है उसको करके किसी समयमें कर्मोंका नाश नहीं करेगा यह जो कथन है सो अभव्यत्व गुणका ही लक्षण जानना चाहिये । और अन्य भी तो दृष्टान्त मोक्षके विषयमें जानने योग्य हैं ।

अब यहां कोई शंका करता है कि अनादि कालसे मोक्षको जाने हुए जीवोंमें जगत्की शून्यता हो जायगी अर्थात् अनादिकालसे जो मोक्षको जीव जा रहे हैं तो न्यून होने २ कभी न कभी जगत्में जीव सर्वथा न रहेंगे. इस शंकाका परिहार करते हैं कि जैसे क्रमसे जाते हुए जो भविष्यत् कालके समय हैं उनसे यद्यपि भविष्यत्कालके समयोंकी राशिमें न्यूनता होती है तथापि उस समयराशिका अंत कदापि नहीं इसी प्रकार मुक्तिमें जाने हुए जीवोंसे यद्यपि जगत्में जीवराशिकी न्यूनता होती है तथापि उस जीवराशिका अंत नहीं है । यदि ऐसा कहो तो यह शंका भी होती है कि पूर्व कालमें बहुत जीव मोक्षको गये हैं तब इस समय जगत्की शून्यता क्यों नहीं देख पड़ती तो इसपर यह भी उत्तर है

किं अमव्य जीव तथा अमव्यके समान मव्य जीवोऽत्र मोक्ष नहीं है । तिर ५०
शून्यता कैसे होगी ॥ ३० ॥

इस प्रकार संक्षेपसे मोक्षतत्त्वके व्याख्यानरूप एक सूत्रमें पंचम स्थल समाप्त हुआ ।

अत ऊर्ध्वं पठस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपाप
संख्यां कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब इसके आगे पष्ठ (छठे) स्थलमें गाथाके पूर्वार्धसे पुण्य तथा पापरूप जेसे
पदार्थ हैं उनके स्वरूपको और उत्तरार्धसे पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियोंकी संख्या
हता हूँ इस अभिप्रायको मनमें धारण कर, भगवान् इस सूत्रका प्रतिपादन करते हैं ।

गाथा । सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।

सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥ ३८ ॥

गाथाभावार्थः—शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पुण्य और पापरूप होते हैं ।
सत्तावेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम तथा उच्च गोत्र नामक कर्मोंकी जो प्रकृतियाँ हैं वे
पुण्य प्रकृतियाँ हैं और शेष सब पापप्रकृतियाँ हैं ॥ ३८ ॥

व्याख्या । “पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा” चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्य-
पत्रन्धमोक्षादिपर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकमंत्रन्धपर्यायेण पुण्यं पावं च
भवन्ति खलु स्फुटं जीवाः । कथंभूताः सन्तः “सुहअसुहभावजुत्ता” “उद्धम मिष्यात्ततिं
भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम् । भावनमस्कारतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि । १ । पञ्च
महाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् । दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ बुरोचोत्त
। २ ।” इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगरति-
णामेन च युक्ताः परिणताः । इदानीं पुण्यपापभेदान् कथयति “सादं सुहाउ णामं गोदं
पुण्णं” सद्देयशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं भवति “पराणि पावं च” तस्मादपराणि कर्माणि पापं
चेति । तद्यथा—सद्देयमेकं, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, सुभगयशःकीर्त्तितीर्थकरत्वादिनामन-
वीनां सप्तत्रिंशत्, तथोच्चैर्गोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्यप्रकृतयो विशेषाः ।
शेषा द्वयशीतिपापमिति । तत्र “दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीष्टान-
नोपयोगसंबन्धौ शक्तिस्त्यागतपत्नी साधुसमाधिर्वैयाहृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुशुभप्रवचन-
किरावश्यकापरिहाणमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य” इत्युक्तलक्षणोऽत्र
भावनोत्पन्नतीर्थकरनामकर्मैवं विशिष्टं पुण्यम् । षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया “दू-
दप्रयं मदाध्याशौ तथानायतनानि पदू । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः । १ ।”
इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाप्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयवचिरूपा सन्
क्त्वभावनेव मुख्येति विशेषम् । सम्यग्दृष्टेर्जाविस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम् । कथं पुण्यं करो-
षीति ? तत्र युक्तिमाह । यथा कोऽपि देशान्तरमथमनोहस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदयं शब्द-
यन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्र्य-
शोदयात्तत्रामयं सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधुनां

के अन्तर्गतद्वारा अर्थ विप्रत्ययान्तक अन्तर्गत अथ एतन्वृत्तादिना शुभान्तर्गतानादिना वा परमभक्ति
 इति तेन भोगावादादिनिदानरति मरिचिकाभेन बुद्धिचिन्ता पञ्चान्तर्गत अनिहितवृत्तया विशिष्ट-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-
 इत्यन्तर्गतमेव अथ एते दंतेन्द्रलोकान्तिवादिविभूति प्राप्य विमानपरीसारादिमंपदं जीर्ण-

इति धीनेमिषन्द्रसंज्ञान्तिवदेषविरचिते द्रव्यसहस्रमन्थे "भासवबंधण"
 इत्यादिना सूत्रगाथा तदनन्तरं गाथादशकेन स्थलपदकं चेति समु-
 दायैर्नैवादानासूत्रैः समतलचनवपदार्थप्रतिपादकनामा
 द्वितीयोऽन्तरापिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

प्याग्यार्थः—“पुष्पं पापं एवंति खलु जीवा” विद्वानन्दरूप सहज शुद्ध भावसे
 पुण्य, पाप, बन्ध, तथा मोक्ष आदि पर्याय स्वरूप विकल्पोंसे रहित भी जीव हैं तथापि
 संज्ञान (प्रसाद)मे प्राप्त जो अनादि कर्मबन्ध पर्याय है उससे पुण्य तथा पाप भी होते हैं
 अर्थात् पुण्य पापको प्राप्त होते हैं। कैसे होते हुए जीव पुण्य पापको धारण करते हैं;
 इसलिये यह विशेषण कहते हैं। “सुहृद्भ्रमुहृद्भावनुचा” “मिथ्यात्वरूपी विपका वमन कर
 दो, सम्यग्दर्शनकी भावना करो, उत्कृष्ट भक्तिको करो, और भाव नमस्कारमें तत्पर होके
 सदा ज्ञानमें लगे रहो। १। पांच महामतोकी रक्षा करो, क्रोध आदि चार कषायोंका पूर्ण
 रूपसे निग्रह करो, दुर्दान्त (मवल) इन्द्रियरूप शत्रुओंका विजय करो तथा बाह्य और
 आन्तरिक भेदसे दो प्रकारका जो तप है उसको सिद्ध करनेमें उद्योग करो।” इस प्रकार
 दोनों आर्याष्टान्तोंसे कहे हुए लक्षणसहित शुभ उपयोगरूप भाव परिणामसे तथा उसके
 विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणामसे युक्त (परिणत) जो जीव हैं वे पुण्य पापको धारण
 करते हैं अथवा स्वयं पुण्य पापरूप हो जाते हैं। अब पुण्य तथा पापके भेदोंको कहते हैं।
 “सादं सुहाड णामं गोर्दं पुष्पं” साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोज
 ये कर्म तो पुण्यरूप हैं और इनसे भिन्न जो शेष कर्म हैं वे पापकर्म हैं। सो इस प्रकार है—
 साता वेदनी एक प्रकृति; तिर्यच, मनुष्य और देव इन भेदोंसे शुभ आयुकी प्रकृतियें तीन
 हैं; सुभग, यश कीर्ति तथा तीर्थकरपना आदि रूप नामकर्मकी प्रकृतियें सैंतीस ३७ और
 उच्च गोज एक १; ऐसे सब मिलके समुदायसे बयालीस ४२ संख्याकी धारक पुण्य प्रकृ-

तियें जाननी चाहिये । बाकीकी जो बयासी ८२ प्रकृति आठों कमोंकी हैं वे सब प्रकृति हैं ॥

उनमें "दर्शनविशुद्धि १ विनयसंपन्नता २ शील तथा व्रतोंमें अतिचाररहितता ३ अन्तर ज्ञानमें उपयोग ४ संवेग ५ शक्तिपूर्वक त्याग ६ शक्तिपूर्वक तप ७ कृत्योत्तम ८ वैवाचित्यका करना ९ अर्हतमें भक्ति १० आचार्यभक्ति ११ बहुश्रुतार्थ १२ प्रवचनभक्ति १३ आवश्यकोंमें हाति न करना अर्थात् पद आवश्यकोंको निरस्त करना १४ मार्गप्रभावना १५ और प्रवचनवात्सल्य १६ ये तीर्थंकर प्रकृतिके बंधोंसे रहित हैं" इस कहे हुए लक्षणकी धारक जो सोलह भावना हैं उनसे उत्पन्न जो ब्रह्मनामकर्म है सो विशिष्ट पुण्य है । उक्त सोलह भावनाओंमें परमागम भाषासे "दीन आठ मद, छः (६) अनायतन और आठ शंका आदि दोष ऐसे पचीन २५ अन्तर्गर्भके दोष हैं । १ ।" इस प्रकार श्लोकमें कहे हुए पचीस सम्यग्दर्शनके मूल (दीन अनिचारों)से रहित ऐसी तथा अध्यात्मभाषासे निजशुद्ध आत्मा ही उपदेश (प्रवचन) करने योग्य है, इस प्रकारकी जो रुचि (प्रीति) है उसरूप जो सम्यक्त्वकी भावना गौरी मुख्य है यह जानना चाहिये । शंका-सम्यग्दृष्टी जीवके तो पुण्य तथा पाप के दोष ही हेय (त्याग्य) हैं फिर वह पुण्य कैसे करता है? अब इस शंकाके समाधानमें बुद्धि कथन करते हैं । जैसे कोई मनुष्य अन्य देशमें विद्यमान ऐसी मनोहर (रूप रत्न आदि) चीजें पागले आये हुए मनुष्योंका उम स्त्रीकी प्राप्तिके अर्थ दान, मन्त्र आदि करता है; ऐसे ही सम्यग्दृष्टी जीव भी निजशुद्ध आत्माको ही भावना है । परंतु इस परिश्रमोदके उदयमें उम निज शुद्ध आत्माकी भावनामें असमर्थ होता है; तब दोषोंके परमान्ता स्वरूप जो अर्हन् भिद है तथा उनके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय आदि गुरु हैं उनही परमात्मास्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त और विषय तथा कषायोंको दूर करनेके श्रिये दान पूजा आदिमें अथवा गुणोंकी स्तुति आदिसे परम भक्तिको करता है । और भोगोंकी वांछा आदि निदानोंमें रहित जो परिणाम है उममें कुटुंबियोंके पत्नीके सम्बन्ध निषिद्ध करनेसे विशिष्ट पुण्यका आयव करना है, अर्थात् जैमे विमान उम का भोग ही भोगी करता है; तब उमका मुख्य उद्देश चावल उत्पन्न करनेका रहता है और वह भोगी को पकाव (पाम) है उममें उमकी वांछा नहीं रहती है, तथापि उमको बहुतमा इतना भोजन ही उमका है, इसी प्रकार भोगीको चाहनेवाले जीवोंके वांछा विना भी भोजन करनेसे उमका सम्बन्ध होता है । और उम पुण्यमें स्वर्गमें इन्द्र, लोकान्तिक देव आदिकी विभिन्न शक्तियोंके उदयमें उमकी वांछा तथा देव देवियोंका परिवार है उमको ही उमके सम्बन्ध निमित्त उमका पंच महारिदशोंमें जाके देवता है । क्या देवता है? देवता उमको उमका वह है कि, वह वह समवयस्य है, वे वे श्रीश्रीनगम गर्भमें मयकर है।

भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले गणधर देव आदि हैं, जो कि पहले ज्ञे होते थे, वे आज प्रत्यक्षमें देखे ऐसा मानकर अधिकतासे धर्ममें दृढ बुद्धिको करके पुण्य गुणस्नानके योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है उसको नहीं छोड़ता हुआ भोगोंका भवन होनेपर भी धर्मध्यानसे देव आयुके फालको पूर्णकर स्वर्गसे आकर तीर्थकर आदि पदको प्राप्त होता है और तीर्थकर आदि पदको प्राप्त होनेपर भी पूर्वजन्ममें भावित की है जो विशिष्ट—भेदज्ञानकी वासना है उसके बलसे मोहको नहीं करता है और मोह-रहित होनेसे श्रीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर पुण्य तथा पापसे रहित जो निजपरमात्माका स्नान है उसके द्वारा मोक्षको जाता है । और जो मिथ्यादृष्टी है वह तो तीव्र निदानबंधके पुण्यसे चक्रवर्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणोंके समान भोगोंको प्राप्त होकर मरकटो जाता है । इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक जो पुण्य और पापरूप दो पदार्थ हैं इन सहित पूर्वोक्त जो सात तत्त्व हैं वेही नव ९ पदार्थ हो जाते हैं । अर्थात् जीव अजी-विदि सात तत्त्वोंमें पुण्य और पापके मिलानसे नौ पदार्थ हो जाते हैं । ऐसा समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसैदान्तदेवविरचितद्रव्यसङ्ग्रहस्य श्रीब्रह्मदेवनिर्गितसंस्कृतटीकायाः
शामीत्युपाधिधारक—श्रीब्रह्मवाहरलालदि० जैनप्रणीतभाषानुवादे “आम्रबंध-
पण” इत्याद्येकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा
द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः । २ ।

अत उर्ध्वं विज्ञतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति । उत्तरादीं “सम्प्रदं सण” इत्याद्यष्टगाथा-
निर्भयमोक्षमार्गद्वयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुत्पत्यत्वेन प्रथमोऽन्तराधिकाररूपः पञ्च “दु-
विदे वि मुखलदेव” इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यानध्याताध्यायेध्यानफलकथनमुत्पत्यत्वेन द्वितीयो-
ऽन्तराधिकारः । तृतीयाधिकारं समुदायेन पातनिका ।

अथ प्रथमतः सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निर्भयमोक्षमार्गं निरूपयति ।
अथ इसके पश्चात् शीघ्र २० गाथा पर्यन्त मोक्षमार्गका कथन करते हैं । उसकी आ-
दिमें “सम्प्रदं सणणाणं” इत्यादि आठ गाथाओंके द्वारा प्रधानतासे निर्भय मोक्षमार्ग और
व्यवहार मोक्षमार्गका प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है । उसके अनंतर “दुविदे वि
मुखल देव” इत्यादि बारह गाथाओंसे ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यानके फलको कहना है
उत्पत्य प्रयोजन जिसका ऐसा द्वितीय अन्तराधिकार है । इस प्रकार इस तृतीय अधिकारमें
समुदायसे पातनिका है ।

अथ प्रथमटी सूत्रके पूर्वार्धसे व्यवहार मोक्षमार्गकी और उत्तरार्धसे निर्भय मोक्षमार्गकी
कहने हैं ।

गाथाभाष्यार्थः—आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता इस कारण उस त्रयमयी जो आत्मा है वही निश्चयसे मोक्षका कारण है ॥ ४० ॥

व्याख्या । “रयणत्तयं न घट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्ण दवियद्धि” रत्नत्रयं न वर्त्तते स्वकी-
 शुद्धात्मानं मुक्त्वा अन्याचेतने द्रव्ये । “तस्मा तत्तियमइइ होदि हु मुक्त्वरस कारणं
 आदा” तस्मात्तत्रितयमय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति जानीहि । अथ वि-
 शारः—रागादिविकल्पोपाधिरहितविषमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुरसोऽहमिति निश्च-
 रूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं
 मयज्ञानं, तथैव घट्टधुतानुभूतभोगाकाहुप्रभृति समस्वापध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्पवि-
 कल्पजालत्यागेन तत्रैव मुने रत्नस्य संतुष्टस्य हृत्प्रसव्यकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचि-
 त्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम् । इत्युक्तलक्षणं निश्चयरत्नत्रयं शुद्धात्मानं विद्या-
 न्यत्र पटपटादिषद्द्रव्ये न वर्त्तते यतस्ततः कारणदाभेदेन येनानेकद्रव्यात्मकैकप्रपानकव-
 देव सम्यग्दर्शनं, तदेव सम्यग्ज्ञानं, तदेव चारित्रं, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निजशु-
 द्धात्मानमेव मुक्तिकारणं जानीहि ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थः—“रयणत्तयं न घट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्ण दवियद्धि” निजशुद्ध
 आत्माको छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता है । “तस्मा तत्तियमइइ
 दि हु मुक्त्वरस कारणं आदा” इस कारण इस रत्नत्रयमय आत्माको ही निश्चयसे
 मोक्षका कारण जानो । अब विस्तारसे वर्णन करते हैं—राग आदि विकल्पोंकी उपाधिसे
 तत्त जो चित् चमत्कारकी भावनासे उत्पन्न मधुर रस (अमृत) है उसके आस्वाद रूप
 का धारक मैं हूँ इस प्रकार निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है । और इस पूर्वोक्त सुखका जो
 आदि समस्त विभाव है उनसे स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा भिन्न करना अथवा जानना है सो
 यज्ञान है । और इसी प्रकार देखे, मुने, तथा अनुभव किये हुए जो भोग उनमें बांछा
 ना आदि जो समस्त दुर्ध्वानरूप मनोरथ हैं उनसे उत्पन्न हुए संकल्प विकल्पोंके त्यागमे
 जो सुखमें संतुष्ट तथा एक आकारका धारक जो परम समता भाव उससे चलायमान
 का चारवार स्थिर करना सम्यक् चारित्र है । इस प्रकार कहे हुए लक्षणका धारक
 रत्नत्रय है वह शुद्ध आत्माको छोड़कर अन्य जो घट, पट आदि धातु द्रव्य है उनमें
 रहता है इस कारण अभेदसे अनेक द्रव्योंमय एक प्रपानक अर्थात् वशम, सौंफ,
 नी, मिरच आदि द्रव्योरूप ठंडाईके समान यह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह
 आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्माही चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है । इस
 प्रकार कहे हुए लक्षणवाले निजशुद्ध आत्माको ही मुक्तिका कारण जानो ॥ ४० ॥

एवं प्रथमस्थले सूत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं सद्योपेण व्याख्याय तदनन्तरं
 प्रथमस्थले गाथापद्यकपर्यन्तं सम्यक्स्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति । तत्राहौ सम्यक्त्वमाह ।

इस प्रकार प्रथम स्थलमें जो सर्वोपर्य उपरोक्त निश्चय मोक्षमार्ग और उपर्युक्त मोक्षमार्ग

गैके स्वरूपका व्याख्यान करके अब आचार्य छः गाथाओंतक क्रमसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम ही छन्द (न्दर्शन)को कहते हैं।

जीवादीसद्ग्रहणं सम्मत्तं रूपमभ्यणो तं तु।

दुरभिणिवेशविमुक्तं णाणं सम्मं खु होदि सदि जदि ॥१॥

गाथाभाषार्थः—जीव आदि पदार्थोंका जो अद्धान करना है वह सम्मत्त। वह सम्यक्त्व अत्माका स्वरूप है। और इम सम्यक्त्वके होनेपर संशय, मिथ्या चिन्तनव्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशोंसे रहित होकर सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ १ ॥

अन्वया । “जीवादीसद्ग्रहणं सम्मत्तं” धीतरागसर्वशयणीतमुद्धजीवादिपरिणामो
चिन्तावगादरहितत्वेन भज्जानं क्वचिन्निश्रयइदमेवेत्यमेवेति निश्रयपुञ्जिः सम्मत्तं
“रूपमभ्यणो तं तु” तथाभेदनयेन रूपं स्वरूपं तु पुनः कस्मात्तमन आत्मपरिणाम इत्यं
दम सामर्थ्यमाहात्म्यं दर्शयति । “दुरभिणिवेशविमुक्तं णाणं सम्मं खु होदि सदि जदि”
इत्येव सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग् भवति श्रुतं कथम्भूतं सम्पदमर्थः । “दुरभिनिवेशो
होति” इति परिणामार्थः ।

इतो विस्तारः—सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति यदुक्तं तस्य विवरणं कियते
 धार्मि-गौतमामिभूतिवायुभूतिनामानो विद्वाः पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं, ज्यो-
 तिष्कव्याकरणादिषडङ्गानि, मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्राणि तथा भारताद्यष्टादशपुराणानि
 तीर्त्तान्यायविस्तर इत्यादिलौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं
 म्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव । यदा पुनः प्रसिद्धकथान्यायेन भीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थ-
 परमदेवसमवसरणे मानस्तम्भलोकनमात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्र्यमोहनीयोप-
 मक्षयसेवोपाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धि विशेषेण
 प्यात्वं विलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम् । ततश्च “जयति भग-
 वन्” इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तद्विसम्प-
 ल्प्योऽपि गणधरदेवाः संजाताः । गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गधररचनां कृतवान् ।
 धार्मिधरत्रयभावनावलेन त्रयोऽपि मोक्षं गताः । शेषाः पञ्चदशशतप्रमितब्राह्मणाजिन-
 र्शां गृहीत्वा यथासम्भवं स्वर्गं मोक्षं च गताः । अभव्यसेनः पुनरेकादशाङ्गधारकोऽपि
 म्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानी सञ्जात इति । एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणत्र-
 यशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति । तद्भावे विषयुक्तदुर्धर्मिव सर्व
 इति ज्ञातव्यम् ।

अब विस्तारसे वर्णन करते हैं । उसमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन होनेपर ज्ञान सम्यग्ज्ञान
 होता है यह जो कहा गया है उसका विवरण करते हैं । तथाहि पांच पांचमो ब्राह्म-
 णोंके अध्यापक (पढ़ानेवाले) गौतम, अमिभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण
 चारों वेद, ज्योतिष्क व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतिशास्त्र,
 महाभारत आदि अठारह पुराण, तथा तीर्त्तान्यायविस्तर इत्यादि समस्त लौकिक
 शास्त्रोंको जानते थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्या ज्ञान ही था ।
 परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथोके अनुसार भीवीर वर्धमान (महावीर) स्वामी तीर्थंकर
 परम देवके समवसरणमें गये तब मानस्तम्भके देसनेमात्रमें ही आगम भाषामें
 दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीयके क्षयोपशमसे और आध्यात्म भाषामें निज शुद्ध
 अत्माके सन्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व
 नाशको प्राप्त होगया और उसी समय उनका जो मिथ्याज्ञान था वही सम्यग्ज्ञान
 होगया । और सम्यग्ज्ञान होते ही “जयति भगवान्” इत्यादि रूप जो प्रसिद्ध
 श्लोक है उससे भगवान्को नमस्कार करके भीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर केसोका
 जो लोच किया उसके पीछे ही मति, श्रुत, अबधि और मनःपर्यय नामक चार ज्ञान
 तथा सात ऋद्धियोंके धारक होके तीनों ही श्रीमहावीर स्वामीके समवसरणमें गणधर
 देव होगये । उनमेंसे गौतमस्वामीने भव्यजीवोंके उपकारके अर्थ द्वादशाङ्गरूप धुनकी
 रचना की । फिर ये तीनों ही निधयरत्रयकी भावनाके बलसे मोक्षको प्राप्त हुए ।

और एकादश (ग्यारह) अंगोंका पाठी भी जो एक अभव्यसेन नामक इति-
सम्यक्त्वके विना मिथ्याज्ञानी ही रहा । इन उक्त दोनों कथाओंसे निश्चित
सम्यक्त्वके माहात्म्यसे मिथ्यारूप भी जो ज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम तथा
आदि हैं वे सम्यग् हो जाते हैं । और सम्यक्त्वके विना विष (जहर) से
हुए दुग्धके समान ज्ञान तपश्चरणादि सब वृथा हैं यह जानना चाहिये ।

तथ सम्यक्त्वं पञ्चविंशतिमलरहितं भवति । तद्यथा मूढो
देन मूढत्रयं भवति । तत्र शुभाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं
वैश्वदेवतास्वरूपमजानन्
रागद्वेषोपहृतासंरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति
घतामूढत्वं भण्यते । न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति । कथमिति चेत्
स्वामिच्छमीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता, कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं
यनी विद्या साधिता, कंसेन च नारायणविनाशार्थं बहुगोऽपि विद्याः समारा
कृतं न किमपि रामस्यामिपाण्डवनारायणानाम् । तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता नानुर्ह
यानि निर्मलसम्यक्त्योपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति । अथ
कथयति । गङ्गादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणामिप्रवेशमरणगोप
मरणभूम्यमिषट्पृथ्वीपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढस्य
अथ रामयमूढत्वमाह । अज्ञानिजनचित्तघमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं
रागमद्वेषप्रगीतममर्थं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्त्रेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणाम
जातुस्कारादिकरणं रामयमूढत्वमिति । एवमुक्तलक्षण मूढत्रयं सरागसम्यक्त्व
परिहरणीयमिति । त्रिगुमात्रमालक्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रसाधे पुनर्निजनिरत्न
गामैव देव इति निश्चययुक्तिर्देवतामूढरहितत्वं विशेषम् । तथैव मिथ्या
दिस्यमूढमात्रयोगेन मनुद्वात्मन्येवायस्थानं लोकमूढरहितत्वं विशेषम् ।
ममन्मनुमानुममकृत्यदिकल्पकपरभावयोगेन निर्विकारगारिवकपरमानन्दकल्प
स्मीमांसेन तस्मिन्नेव सम्यक्त्वपेणायनं गमनं परिणमनं रामयमूढरहितत्वं चोप

है भी फल नहीं देते हैं। फल कैसे नहीं देते हैं! यदि ऐसा पूछो तो उत्तर यह है—रावणने श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीके विनाशके लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, और कौरवोंने पांडवोंका मूलसे नाश करनेके अर्थ कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी, तथा कंसने श्रीकृष्ण नारायणके नाशके लिये बहुतसी विद्याओंकी आराधना की थी। परन्तु उन विद्याओंने श्रीरामचन्द्रजी, पाण्डव और श्रीकृष्णनारायणका कुछ भी नष्ट नहीं किया। और श्रीरामचन्द्रजी आदिने इन मिथ्यादृष्टी देवोंको अनुकूल ही किया अर्थात् नहीं आराधे तोभी निर्मलसम्यग्दर्शनसे उपासित जो पूर्वमवका पुण्य है तबसे उनके सब विघ्न दूर होगये। अब लोकमूढताका कथन करते हैं। “गंगा आदि ती नदीरूप तीर्थ हैं इनमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, प्रातः (प्रभात) जलमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मर जाना, मृतक (मृदं) की अग्नि (चिना) में प्रवेश करके मरना, गो (गाय) के पुच्छ आदिको ग्रहण करके मरण करना, शिवी-अग्नि और बट (बट्ट) वृक्ष आदिकी पूजा करना” ये सब पुण्यके कारण हैं। इस प्रकार जो लोक कहते हैं उसको लोकमूढता जानना चाहिये। अब समयमूढ अर्थात् शास्त्र अथवा धर्म मूढताको कहते हैं। अज्ञानी लोगोंके निष्ठमें चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करनेवाले जो ज्योतिष अथवा मंत्र वाद आदिको देखकर; श्रीश्रीनारायण सर्वज्ञद्वारा कहा हुआ जो समय (धर्म) है उसको छोड़कर मिथ्यादृष्टी देव, मिथ्या आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिङ्गी इन सबका भयने, बाँटने, छेदने और लोभके बशसे जो धर्मके लिये मनाम, विनय, पूजा, स्तुति आदिका करना है उस सबको समयमूढता जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणकी धारक जो तीन मूढता हैं इनको सरागमभ्यादृष्टीकी अवस्था (दशा) में त्यागना चाहिये। और मन, वचन तथा कायकी गुप्तिरूप अवस्था है लक्षण जिसका ऐसा जो श्रीनारायणस्वरूप है उसके प्रस्ताव (निरूपण) में अपना निरंजन तथा निर्दोष जो परमात्मा है वही देव है ऐसी जो निश्चय बुद्धि है वही देवमूढतासे रहितता जाननी चाहिये। तथा मिथ्यात्व-राग आदिरूप जो मूढभाव है इनका त्याग करनेमें जो निःशुद्ध आत्मामें स्थितिका करना है वही लोकमूढतासे रहितता है यह जानने योग्य है। इसी प्रकार संपूर्ण शुभ तथा अनुभूत जो संकल्प विकल्पस्वरूप पर भाव है उनके त्यागरूप जो विकाररहित-बालविक-परमानंदमयलक्षणका धारक परम समता भाव है उससे उस निःशुद्ध आत्मामें ही जो सम्बन्धकारसे अयन अर्थात् गमन अथवा परिणमन करना है उसको समयमूढतासे रहितता समझना चाहिये। इस प्रकार तीन मूढ-साक्षा व्याख्यान किया।

अथ महाष्टम्बरं कथ्यते । विश्वनाथसंज्ञानतपःबुद्धजातिरूपसंतं महाष्टकं सरागमभ्य

गो भण्यते । तथा—रागादिदोषा अज्ञानं वाऽऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि धीतरागसर्व-
नास्ति ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयत्वत्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भर्ष्यः संशयः सन्देहो
कर्मण्यः । तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनरुपनचौरकथा प्रतिष्ठा । तत्रैव विभीषण-
कथा । तथाहि—सीताहरणप्रसङ्गके रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्यां सह सङ्ग्रामप्रसङ्गे विभी-
षणेन विचारितं रामस्तावदष्टमवलदेवो लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणाश्चाष्टमः प्रतिवासु-
देव इति । तस्य च प्रतिवासुदेवस्य वासुदेवहस्तेन मरणमिति जैनागमे पठितमाप्तं
निर्मप्या न भयतीति निःशङ्कोभूत्वा त्रैलोक्यकण्ठकं रावणं स्वकीयभ्येष्टभ्रातरं त्यक्त्वा
शंशङ्कादिणीप्रमितचतुरङ्गयत्नेन सह स रामस्याभिपार्थं गत इति । तथैव देवकीवसुदेवद्वयं
निःशङ्कं ज्ञातव्यम् । तथाहि—यदा देवकीबालकस्य मरणनिमित्तं कंसोऽन प्रयत्ना कृत्वा
शंशङ्काभ्यां पर्यालोचितं मदीयः पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हस्तेन जगामिन्पुनामो
नवमप्रतिवासुदेवस्य कंसस्यापि मरणं भविष्यतीति जैनागमे भगिर्न विप्रतीति, तथै-
वातिमुक्तमहाराजैरपि कथितमिति निश्चित्य कंसाय स्वकीयं बालकं दत्तम् । तथा गोपभर्ष्य-
रपि जैनागमे शङ्का न कर्तव्येति । इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यातम् । निश्चयेन
पुनस्तथैव व्यवहारनिःशङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेह्लोकाप्राणागुणमरणव्याधिबेदनाकर्मिणा-
भियानमयसत्रकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीपद्मस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नप्रयभावेनैव
निःशङ्कागुणो ज्ञातव्य इति ।

१/ अब इसके अनंतर शंका आदि आठ दोषोंके त्यागका कथन करते हैं । नि शंका
आदि आठ गुणोंका जो पालन करना है वही शंकादि आठ मलों (दोषों) का त्याग
कदलाना है । यह हम प्रकार है—राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों अगम्य
(संत) घबन धोलनेमें कारण हैं और रागादि दोष तथा अज्ञान ये दोनोंही धीतर-
राग सर्वज्ञ धीजिनेन्द्र देवोंके नहीं है इस कारण धीजिनेन्द्रदेवोंके निरूपित किये हुए
हेयोपादेयत्वमें अर्थात् यह त्याग्य है यह प्राज्ञ है इस प्रकारके तत्त्वों, कालमें
और मोक्षमार्गमें भव्यजीवोंको सन्देह नहीं करना चाहिये । इस स्थलमें प्रथम जो शंका
दोष है इसके त्याग विषयमें अंजन चौरकी कथा शास्त्रोंमें प्रतिष्ठा ही है और
विभीषणकी भी कथा इस प्रकरणमें जाननी चाहिये । उसीका कथन करते हैं कि,
सीताजीके हरणके प्रसंगमें जब रावणका धीरामलक्ष्मणके साथ युद्ध करनेका अवसर
आया तब विभीषणने विचार किया कि धीरामचंद्रजी तो अष्टम (८ वें) अष्टम दे
और लक्ष्मणजी अष्टम नारायण हैं तथा रावण अष्टम अनितायण है । और जो
प्रतिनारायण होता है उसका नारायणके हाथसे मरण होता है ऐसा जैनागमोंमें
पढ़ा गया है, यह मित्या नहीं हो सकता इस प्रकार शङ्काहित होकरबे अणु बटा
भाई जो तीन लोकका कंठक रावण था उसको छोड़कर तीस अर्शादिणी सेना प्रण-
जो अपना चतुर्ग (हाथी, घोटा, रथ, पयादेरूप) बल था उस शक्ति अंगारमन्त्रजोके
समीप पला गया । इसी प्रकार देवकी तथा वासुदेवको भी शङ्काहित जानना २ ८

नके लिये सीताजी अमिकुंडमें दिव्य (धीज) लेकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्रीराम-
 जीने उनको पट्टमहाराणीका पद दिया; परन्तु सीताजीने पट्टमहादेवीकी संरक्षणी
 करके बलशानी श्रीसकलभूषण मुनिके चरणमूलमें कृतान्तवक्र आदि राजा तथा
 तसी रानियोंसहित श्रीजिनदीक्षाको ग्रहण करके शशिप्रभर आदि आर्थिकजोके समूह
 हित ग्राम, पुर, खेटक आदिमें विहार द्वारा भेदाभेद रूप रत्नत्रयकी भावनामें
 अटवर्ष पर्यन्त जिनमत्तकी प्रभावना की । फिर अन्त्य समयमें तैतीम दिनपर्यन्त निर्विकार
 मान्माके ध्यानपूर्वक संन्यास (समाधि गरण) करके अच्युत नामक मोक्षहोवे स्वर्गमें
 तीन्द्र हुई । और वहाँपर उन्होंने (सीताजीके जीव प्रतीन्द्रने) अवधिज्ञानमें निर्मल
 ग्यन्दशनके फलको देखकर धर्मके अनुरागसे नरकमें जाके रावण और लक्ष्मणके जीवों
 से संबोधा और वे (प्रतीन्द्र) अब स्वर्गमें विराज रहे हैं । आगे सीताजीका जीव स्वर्गमें
 गकर सकल चक्रवर्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मणके जीव इस चक्रवर्तीके पुत्र
 गे । पश्चात् श्रीतीर्थकरके चरणमूलमें अपने पूर्वभवोंको देगकर दोनों पुत्र तथा परिष्कार-
 हित सीताजीका जीव सकल चक्रवर्ती दीक्षाको ग्रहण कर भेदाभेदरत्नत्रयकी भाव-
 ने सीता, रावण तथा लक्ष्मण ये तीनों ही पांच अनुत्तर विमानोंमें अष्टमिन्द्र होंगे ।
 आकर रावण तो तीर्थकर होगा और सीताजीका जीव गणपर होगा । तथा
 लक्ष्मणकी धातकी मंडूचीपमें तीर्थकर होगा । इस प्रकार व्यवहार निष्काशागुणका
 रूप जानना चाहिये । और निश्चयसे उसी व्यवहार निष्काशागुणकी महाप्रशंसा देवे,
 सुने तथा अनुभव किये हुए जो पांचों इन्द्रियोंसंमन्धी भोग हैं इनके त्यागमें निश्चय-
 रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक निज आत्मासे उत्पन्न सुखरूपी अमृत इस
 उगमें जो चित्तका संतोष होना है वही निष्काशागुण है ।

अथ निर्विकारितागुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयसाम्यभयजीवानां दुर्गन्धिभङ्गा-
 दिके दृष्टाधर्मयुक्ता फारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विधिकिरतापरिहरणं द्रव्यनिर्विकारिता-
 गुणो भण्यते । यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं किन्तु बन्धमावरणं जल्लानादिकं च
 न हर्षन्ति तदेव रूपमित्यादिबुद्धिगतभावस्य विशिष्टविकेकबलेन परिहरणे वा निर्विकारि-
 तिरता भण्यते । अस्य व्यवहारनिर्विकारितागुणस्य विषय उदायनमहाप्राज्ञकथा इतिमली-
 महादेवीकथा आगमपरिष्ठा ज्ञानव्येति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विकारितागु-
 णस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकाररूपकालोलमाहात्यागं निर्मलतागुणभूतलक्षणं निष्कृष्टा-
 र्थानि व्यवस्थानं निर्विकारितागुणं इति ।

अथ निर्विकारिता नामक गुणको कहते हैं । भेद अभेदरूप रत्नत्रयको अगमने
 कते जो मध्यबीह हैं उनकी दुर्गन्धि तथा भयकर आहृति आदिको देखकर धर्मबुद्धिमें
 अमरता काजाभावेसे समसोय निर्विकारिता (मलिन) को जो दूर करना है एतद्व

द्रव्यनिर्विचिकित्सा गुण कहते हैं । और "जैनमतमें सब अच्छी २ वस्तुके आवरणसे रहितता अर्थात् नम्रपना और जलस्नान आदिका न कर्म दूषण है" इसको आदि ले जो कुत्सित (बुरे) भाव हैं इनको विसरना जो दूर करना वह निर्विचिकित्सा कहलती है । यह जो व्यवहार निर्वाण पालनेके विषयमें उद्घायन नामक महाराजा तथा रुक्मिणी नामक श्रीकृष्णाक्षी कथा शास्त्रमें प्रसिद्ध जाननी चाहिये । और निश्चयसे तो इसी कित्सा गुणके बलसे जो समस्त रागद्वेष आदि विकल्परूप तरंगोंके स करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निजशुद्ध आत्मामें स्थिति करना है वही कित्सागुण है ॥ ३ ॥

इतः परममूढदृष्टिगुणकथां कथयति । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थादुद्दिभूतैः त्रणीतं त्पादकं दृष्ट्वा धृत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्धया तत्र रुचिं भक्तिं न कुर्वते स हारोऽमूढदृष्टिरुच्यते । तत्र चोत्तरमथुरायां साधरमद्वयचारिसम्प्रन्धिनी कथा प्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव प्रसादेनान्तस्त्वयहिसत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिष्यात्वरगादिशुभाशुभसत्त्वेष्वेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुतिरूपेण स्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति । सद्बलविकल्पलक्षणं पुत्रफलप्राप्तौ बहिर्दृश्ये ममेदमितिकल्पना सद्बलः, अभ्यन्तरे मुख्यहं दुःख्यहमिति विषादकारणं विकल्प इति । अथवा वस्तुतृप्त्या सद्बल इति कोऽपि विद्वान् गर्भय पयोः ॥ ४ ॥

7) अब हमके आगे अमूढदृष्टि गुणका कथन करने हैं । धीवीतराग सर्वज्ञ कथित जो शास्त्रका आशय है उससे बहिर्भूत जो कुदृष्टियोंके बनावे हुए जनोंके विषयमें विमय उत्पन्न करनेवाले धातुवाद (रसायनशास्त्र) सन्मत्त, मन्त्र, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकर्षणादिक शास्त्र हैं उनको देखकर तथा सुनकरके जो मूढभावेन धर्मकी बुद्धि करके उनमें प्रीतिकी तथा भक्तिकी नहीं करता है उसीको हममें अमूढदृष्टि गुण कहते हैं । और हम गुणके पाठनके विषयमें उत्तर उद्गति महारक, रेवती ध्राविक्ता और चंद्रप्रभनामक विभाषर प्रमत्तगोपनीय शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । और निश्चयमें इसी व्यवहार अमूढदृष्टि गुणके प्रगादमें जब हमके तत्त्व (अत्मा) और वाचनत्व (शरीरादि) का निश्चय हो जगत्संपूर्ण निष्कम्ब, रागआदि तथा शुभ-अशुभ-संक्रमणविकल्पोंके इष्ट जो इनमें अमूढदेव (मन्त्र) बुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव हैं उनको छोड़कर मन्त्र, कथ इन तीनोंकी शुभिरूपमें विशुद्धज्ञान तथा दर्शन स्वभावेका भावक निश्चय

जो निदान करना (ठहरना) है वही अगूढदृष्टि. नामा गुण है । संकल्प और ज्ञानके लक्षणको करते हैं । पुत्र तथा स्त्री आदि जो बाध पदार्थ हैं, उनमें ये भेदे ऐसी जो कल्पना है वह तो संकल्प है, और अन्तरंगमें भे सुखी हूं मैं दुःखी हूं इस प्रकार जो हर्ष तथा रोदका करना है वह विकल्प है । अथवा यथार्थरूपसे जो संकल्प है ही विकल्प है अर्थात् संकल्पके विवरण रूपसे विकल्प संकल्पका पर्याय ही है ।।

अदोषगूहनगुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तस्य, मन्नाशानिजननिमित्तेन यथाशास्त्रजननिमित्तेन च धर्मस्य वैशुन्यं दूषणमपवादो दुष्प्र-
 भावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशास्त्रार्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्दर्शयति दोषस्य
 तन्मनं निवारणं क्रियते तद्व्यवहारनयेनोपगूहनं भण्यते । तत्र भायाप्रसन्नचारिणा पार्थभट्टा-
 क्तप्रतिमात्प्रसन्नहारेण कृते सत्युपगूहनविषये जिनदत्तभेदिकया प्रसिद्धेति । अथवा रुद्रज-
 नन्वा ज्येष्ठासंहाया लोकापवादे जाते सति यरोपसम्पन्नं कृतं तत्र चेलिनीमहादेवीकथेति ।
 शदैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमा-
 त्मानः प्रच्छादका ये मिथ्यात्वरागादिदोषालेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्बुद्धानज्ञानानु-
 शानरूपं यत्पानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं सम्पन्नं तदेवोपगूहनमिति ।।

अब उपगूहन गुणका कथन करते हैं । यद्यपि भेद अभेद रत्नत्रयकी भावना रूप जो मोक्षमार्ग है वह स्वभावसे ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्यके निमित्तसे अथवा धर्मपालनमें असमर्थ जो पुरुष हैं उनके निमित्तसे जो धर्मकी जुगली, निन्दा, दू-
 षण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्रके अनुकूल धार्मिके अनुसार धनसे अथवा धर्मके उपदे-
 शसे जो धर्मके लिये उसके दोषोंका ढकना है तथा दूर करना है उसको व्यवहार उप-
 गूहन गुण कहते हैं । इस व्यवहार उपगूहन गुणके पालनके विषयमें जब एक कपटी ब्रह्म-
 चारिने श्रीपार्थनाथस्वामीकी प्रतिमामें लगे हुए रत्नको चोरा उस समय जिनदत्त शेटने जो
 उपगूहन किया था वह क्या शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । अथवा रुद्र (महादेव) की जो ज्येष्ठा
 नामक माता थी उसका जब लोकापवाद (लोकनिन्दा) हुआ तब उसके दोषके ढकनेमें
 चेलिनी महाराणीकी क्या शास्त्रप्रसिद्ध है । इसी प्रकार निश्चयसे व्यवहार उपगूहन गुणकी
 सहायतासे अपने निरंजन निर्दोष परमात्माको ढकनेवाले जो राग आदि दोष हैं उन दो-
 षोंका उसी परमात्मामें सम्यक् बुद्धान, ज्ञान तथा आचरणरूप जो ध्यान है उसके द्वारा
 जो ढकना, नाश करना, छिपाना तथा झंपन है वही उपगूहन है ।।

अथ स्थितीकरणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्णसङ्घस्य भये यदा कोऽपि
 दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं वा परित्यक्तुं चाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशा-
 स्त्रा धर्मभवेण वा अर्थेन वा धामार्थेन वा केनाप्युपायेन यद्दर्शं स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण
 स्थितीकरणमिति । तत्र च पुष्पहालवधोपनस्य स्थितीकरणप्रस्तावे चारिषेणुमारकथागमप्रसि-
 द्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्र-

मोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरणादिविकल्पजालत्यागेन निज...
रमानन्दैकलक्षणमुत्सामृततरसास्वादेन तद्भवतन्मयपरमसमरसीभावेन
स्थितीकरणमिति ।

१) अब स्थितीकरणगुणका कथन करते हैं । भेद तथा अभेद रूप ...
वाला जो मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकारका संप है
दर्शनमोहनीके उदयसे दर्शनको अथवा चारित्रमोहनीके उदयसे चारित्रको
इच्छा करे उसको शास्त्रकी आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश श्रवण करानेसे,
मर्यासे अथवा किसी उपायसे जो धर्ममें स्थिर करदेना है वह व्यवहारसे
गुण है ॥ और इस गुणमें पुष्पडालमुनिको धर्ममें स्थिर करनेके प्रसंगमें चारित्र
कथा शायप्रसिद्ध है ॥ और निश्चयसे उसी व्यवहारस्थितीकरणगुणसे जब धर्म
होजावे तब दर्शनमोहनी तथा चारित्रमोहनीके उदयसे उत्पन्न जो समता
आदि विकल्पोंका समूह है उसके त्यागद्वारा निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न
नंदरूप मुत्सामृत रसके आत्सादरूप जो परमात्मामें लीन अथवा परमात्मतरु
(समता) भाव है उससे जो चिचका स्थिर करना है वही स्थितीकरण है ॥

अथ वात्सल्याभिधानं सप्तमाहं प्रतिपादयति । बाह्याभ्यन्तररत्नप्रयागारे
पुत्रपुत्राद्येन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रमुवर्णादिस्नेहवद्वा यदृष्टप्रिमत्नेहकरणे
वात्सल्यं भवत्ये । तत्र च हस्तिनागपुराधिपतिपद्मराजसंबन्धिना बलिनामदुष्टमणि
मयस्यवद्वाग्भ्रत्रयाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिसप्तजतयतीनामुपसंगे क्रियमाणे मति
कुनारनाम्ना निशयत्र्यहारमोभ्रमागाराधकपरमयतिना विदुर्गणद्विप्रभावेन वात्सल्यं
वर्तिमन्त्रिपार्थे पादत्रयप्रमाणभूमिप्रार्थनं कृत्वा यथादेकः पादो मेरुमण्डके वृत्तो द्वितीयो
योग्यपर्वे कृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति यथनच्छलेन मुनिवात्सल्यनिमित्तं बलिमन्त्री
इत्येका हावदागमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया च दशपुरनगराधिपतेर्वंशकर्तृनाम्नाः । ब्रह्मविनीत
विनिता मिश्रेदरमद्वाराजेन जैनोऽयं मम नमस्कारे न करोतीति मत्वा दशपुरनगरे
पेगोरमणे क्रियमाणे भेदाभेदरत्नप्रयभायनाप्रियेण रामस्यामिता वत्सल्येणारसल्यनिमित्तं
दोऽग्रे वद इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथंति । निशयपात्सल्यं पुनश्चात्र
हावदात्मन्यगुणस्य मद्वात्सल्येन धर्मे दृढले जाते सति मिथ्यात्वरणादिममल्लुभकदुर्व
भोग्युर्द्वेति तत्कथा वागादिरिक्तल्योवाविरहितपरमत्वात्प्रयमवित्तमात्रागदानन्दैक
हृन्नादुत्तरमात्माद् प्रति प्रीतिकरणमेवैति सप्तमाहं व्याकयावम् ॥

अथ वात्सल्यं नामकं सप्तमं अंगकं निरूपणं करने हैं । बाह्य और आभ्यन्तर इन दो
प्रकारके स्वरूपको धारण करनेवाले मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका इन चारों
इस अंगमें जिन दो (गण) की कथने प्रीति रहती है उनके समान; अथवा पादो इति
विशेषेण जिनके पुत्र, स्त्री, पुत्रके आदिमें जो यथ रहता है उनके समान; अथवा
(इति) का जो कथन है वह व्यवहारकी अर्थभावे वात्सल्य कहा जाता है ।

दिएमें हलिनागपुर (दधनापुर) के राजा पञ्चराजके बलिनामक दुष्ट मंत्रीने जब नि-
 और व्यवहार रत्नत्रयके आराधक अकंपनाचार्य आदि सातसौ मुनियोंके उपसर्ग किया
 निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) के आराधनेवाले विष्णुकुमार नामक महा-
 धिधरने विक्रियाप्राप्तिके प्रभावसे यामन रूपको धारण करके बलिनामक दुष्ट मंत्रीके पाससे
 न पैग प्रमाण पृथ्वीकी याचना की और जब बलिने देना स्वीकार किया तब एक पग तो
 के शिखरपर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर दिया और तीसरे पादको रखनेके लिये
 पक्ष (न्यान) नहीं रहा तब बचनछलसे प्रतिज्ञाभंगका दोष लगाकर मुनियोंके वात्सल्य
 निष बलिमन्त्रीको बांध लिया. यह तो एक आगमप्रसिद्ध कथा है ही और दूसरी बज्रकर्ण
 नर दशपुर नगरके राजाकी प्रसिद्ध कथा है । वह यह है कि उज्जयिनीके राजा सिंहोदरने
 ब्रह्म जैनी है और मुक्तको नमस्कार नहीं करता है' ऐसा विचार करके जब बज्रकर्णसे
 स्कार करानेके लिये दशपुर नगरको घेर कर घोर उपसर्ग किया तब भेदाभेद रत्नत्रयकी
 बना है प्यारी जिनकी ऐसे श्रीरामचंद्रजीने बज्रकर्णके वात्सल्यके अर्थ सिंहोदरको बांध
 का । इस प्रकार यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । और इसी व्यवहारवा-
 ल्यगुणके सदृशरीपनेसे जब धर्ममें दृढता हो जाती है तब मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण
 पदार्थमें प्रीतिको छोड़कर राग आदि विकल्पोंकी उपाधिरहित परमस्वास्थ्यके ज्ञानसे
 उत्पन्न सदा आनंद रूप जो मुसमय अमृतका आस्वाद है उसके प्रति प्रीतिका करना
 ही निश्चय वात्सल्य है । इस प्रकार सप्तम वात्सल्यअंगका व्याख्यान पूर्ण किया ।।

अथाष्टमाङ्गं नाम प्रभावनागुणं कथयति । श्रावकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपःशु-
 शादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारैण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः । तत्र पुनरुत्तर-
 कपुरायां जिनसमयप्रभावनाशीलाया उगविल्लामहादेव्याः प्रभावनानिमित्तमुपसर्गो जाते सति
 बज्रकुमारनाम्ना विद्याधरभ्रमणेनाकाशे जैनरथभ्रमणेन प्रभावना कृतवत्येका आगमप्रसिद्धा
 कथा । द्वितीया तु जिनसमयप्रभावनाशीलब्रह्ममहादेवीनामस्वकीयजनन्या निमित्तं स्वस्य ध-
 मानुरागं च हरिपेणनामदशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्षगामिना जिनसमयप्रभावनायमुत्तुङ्ग-
 शोरणशिनचैशालयमण्डितं सर्वभूमितलं कृतमिति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा । निश्चयेन पुन-
 सत्सैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकपापप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूप-
 परसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्यसंबेदनज्ञानेन विगुहज्ञानदर्शनस्वभावनिजगुहा-
 त्मनः प्रकाशनमनुभवनेमेव प्रभावनेति ॥ ८ ॥

अथ अष्टम अंग अर्थात् प्रभावनागुणका कथन करते हैं । श्रावक तो दान पूजा आ-
 दिसे जो जैन मतकी प्रभावना करे और मुनि तप, श्रुत आदिसे जैनधर्मकी जो प्रभावना करे
 वही व्यवहारसे प्रभावना गुण है ऐसा जानना चाहिये । और इस गुणके पालनेमें उत्तर-
 मपुरामें (मधुरामें) जिनमतकी प्रभावना करनेका है स्वभाव जिसका ऐमी उग (२) बिला
 महादेवीको प्रभावनाके निमित्त जब उपसर्ग हुआ तब बज्रकुमार नामक विद्याधर भ्रमणेने

तत्र देवविन्दिपदेवनीचदेवप्रयं विहायान्येषु महाद्विकदेवेषूपगते सम्यग्दृष्टिः । इदानीं
 स्वर्गमाप्तुं देवायुष्कः विहाय ये ब्रह्मायुष्मास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति । “हि-
 म्बुद्वीपं लोहसखणमपणसख्यइच्छीमु । पुण्ड्रिणदरेण हि सम्मोण सासणो णारया पुण्णो
 ” इतिवार्थं प्रचारान्तरेण कथयति “ज्योतिर्भावनामामेषु पदस्वयः श्रमभूमिषु । तिर्यक्षु
 षु गतदृष्टिर्नैव जायते । १ ।” अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वप्रथममध्ये
 गतो ह्यस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽशीति कथयति “सौधर्मादिष्वसंख्याद्यायुष्कतिर्यक्षु
 षु । इत्यपभावनां च स्यात्सम्यक्त्वप्रथमजिनाम् ॥१॥” कर्मभूमिजपुरुषे च प्रयं सम्भवति
 षु स्यात्सम्यक्त्वोऽपि । किन्तौपशमिकमपर्यामावस्थायां महाद्विकदेवेष्वेव । “शेषेषु देवति-
 त्स्वयः श्रमभूमिषु । द्वी वेदकोपशमकी स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ॥१॥” इति निश्चयव्यव-
 हारयात्मकमोक्षमार्गावययिनः प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा
 । ४१ ॥

व जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनका ग्रहण होनेके पहले आयुष्का बंध नहीं हुआ
 । वे प्रतका अभाव होनेपर भी अर्थात् प्रत न करनेपर भी नर नारक आदि
 दनीय स्थानोंमें जन्म नहीं लेते ऐसा कथन करते हैं । “जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन
 है ऐसे जीव नरकगति और तिर्यच गतिमें नहीं उपजते हैं और नपुंसक, स्त्री,
 विपुल, अंगहीन शरीर, अल्प आयु और दरिद्रीपनको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥”
 । इसके आगे मनुष्य गतिमें जो सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है उसके प्रभावका वर्णन
 करते हैं । “जो दर्शनसे शुद्ध है ऐसे जीव दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय
 और विभवसे सहित होते हैं और उत्तम कुलवाले, तथा विपुल (बहुत) धनके स्वामी
 होते हैं तथा इन पूर्वोक्त गुणोंसे वे सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ होते हैं ॥ १ ॥” अब जो सम्यग्दृष्टि
 गतिमें उत्पन्न होवे सो प्रकीर्णक देव, बाहन देव, किस्विप देव, व्यन्तर देव, भवन-
 नी देव और ज्योतिषी देवोंके पर्यायको छोड़कर अन्य जो महाकद्विके धारक देव हैं
 सो उत्पन्न होते हैं । अब जिन्होंने सम्यक्त्वका ग्रहण करनेके पहले ही देव आयुको छो-
 डर अन्य किसी आयुष्का बंध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्वका माहात्म्य कहते हैं ।
 “अब नरकको छोड़कर अन्य ६ नरकोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, सब
 और तिर्यचोंमें, सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥” अब इसी आशयको अन्य
 प्रकारसे कहते हैं कि “ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, नीचेके ६ नरकोंकी पृ-
 थिवियोंमें, तिर्यचोंमें और मनुष्यस्त्रियों तथा देवस्त्रियोंके विषे सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होता
 है । अब औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामा जो तीन सम्यक्त्व हैं इनमेंसे किस गतिमें
 इनसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है सो कहते हैं । “सौधर्म आदि स्वर्गोंमें असंख्यात
 पंडी आयुके धारक तिर्यच और मनुष्योंमें अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यचोंमें तथा
 कृष्णमा नामक प्रथम नरक पृथ्वीमें जीवोंके उपशम, वेदक और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व

प्रथम भेद जो परिकर्म है वह पांच प्रकारका है । सूत्र एकही प्रकारका है ।
 भी एक ही प्रकारका है । और जो चौथा पूर्वगत है वह उत्पादपूर्व १ अप्रायश्चित्त-
 र्यानुप्रवादपूर्व ३ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ४ ज्ञानप्रवादपूर्व ५ सत्यप्रवादपूर्व ६
 ७ कर्मप्रवादपूर्व ८ प्रत्याख्यानपूर्व ९ विद्यानुवादपूर्व १० कल्याणपूर्व ११
 १२ क्रियाविशालपूर्व १३ और लोकसारपूर्व १४ इन भेदोंसे चौदह प्रकारका है ।
 चूलिका १ स्वलगत चूलिका २ आकाशगत चूलिका ३ हरमेलला आदिमायासक्त
 ४ और शाकिन्यादिरूप परावर्तन चूलिका ५ इन भेदोंसे चूलिका पांच प्रकारकी
 प्रकार संक्षेपसे द्वादशांगका व्याख्यान है । और जो अंगबाह्य श्रुतज्ञान है वह
 १ चतुर्विंशतिसव २ वंदना ३ प्रतिक्रमण ४ वैनयिक ५ कृतिकर्म ६
 अनुत्तराध्ययन ८ कल्पव्यवहार ९ कल्पाकरूप १० महाकरूप ११ पुंडरीक, १२
 रीक १३ और अशीतिक १४ इन प्रकीर्णकरूप भेदोंसे चौदह प्रकारका जानना

अथवा नृपभादिचतुर्भिः कल्पव्यवहारैः प्रतिक्रमणैः वैनयिकैः कृतिकर्मैः
 नवव्यासुदेवसुमीयादिनवप्रतिव्यासुदेवसम्बन्धिप्रपष्टिपुरुषपुराणभेदभिन्नः
 वपासकाध्ययनादौ भावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन
 चरणानुयोगो भण्यते । त्रिलोकसारे जितान्तरलोकविभागादिमन्यव्याख्यानं
 विशेषः । प्राभूततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषट्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त-
 क्रियेण वा द्रव्यानुयोगो भण्यते । इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधे-
 र्गम् । अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः ।
 यगत्रपरवचनार्थार्थेषु 'मध्ये' निश्चयनयेन स्वकीयशुद्धात्मवृत्त्यं, स्वशुद्धजीवात्मिकारो-
 ऽह्यत्मवृत्त्यं, जितशुद्धात्मवृत्त्यं उपादेयः । शेषं च हेयमिति संश्लेषेण हेवोपादेयभेदेन
 व्यवहारज्ञानमिति ॥

अथवा नृपभा आदि धीवीग तीर्थकरोंका, भरत आदि बारह पक्षवर्तिवोका,
 आदि नौ बन्देवोंका, त्रिपिष्ट आदि नौ नारायणोंका, और सुमीय आदि नौ
 मंत्रों रमनेवाले जो निरमट ६३ जलाकापुरुषोंके पुराण हैं उनरूप भेदोंका बारह
 बड़ प्रथमानुयोग कहलाना है । उपासकाध्ययन आदिमें आयकका धर्म, और
 आदि मन्वोंमें मुनिका धर्म जहां मुख्यतामे कहागया है वट नृपरा चरणानुयोग
 है । विशेषतः, त्रिजान्तर और लोकविभाग आदि मन्वोंका व्याख्यान विशेष हो
 द्रव्यानुयोग जानना बाशिरे । समयमार आदि प्रागृत (पाहुड़) और तत्त्ववृत्त
 निश्चयन आदि मन्वोंमें मुख्यतामे शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छः द्रव्य आदि का जो
 चिन्तन गया है वट द्रव्यानुयोग कहलाना है । इस प्रकार उक्त लक्षणके बारह जो
 नृपरा हैं उनरूप बार प्रकाशका श्रुतज्ञान जानने योग्य है । अनुयोग, अधिकार, परि-
 च्छेद प्रकरण इन्हीं छन्दोंका अर्थ पृष्ट ही है । अथवा बड़ द्रव्य, पांच अधिकार

स्वनात्मना स्वस्य सम्यामात्रकल्परूपय बदन

ज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्परूपसंबेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते ॥

'अब जो विकल्परूप व्यवहारज्ञान है उसीसे साध्य (सिद्ध होने योग्य) जो निश्चयज्ञान उसका फयन करते हैं । जैसे—रागके उदयसे परस्त्री आदिमें बांछारूप, और द्वेषमें अन्य

को मारणे, बांधने अथवा छेदने रूप जो मेरा दुर्ध्यान (बुरा परिणाम) है उसको कोई भी नहीं जानता है ऐसा मानकर निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न, निरन्तर आनंद-

रूप एक लक्षणका धारक जो सुरत्वरूपी अमृतरसा बही हुआ जो निर्मल जन्म उम निर्मल अपने चित्तकी शुद्धिको नहीं करता हुआ यह जीव बाहरमें युगले जैसे बेचको

धारणकर जो लोकोंको प्रसन्न करता है वह मायाशक्त कहलाता है । और अपना निरेजन दोषरहित जो परमात्मा है वही उपादेय है इस प्रकारकी स्वरूप जो सम्भवत्व है उममें

विपरीत लक्षणका धारक जो कोई है उसको मिथ्याशक्त कहते हैं । और विकाररहित—परम चेतन्यकी भावनासे उत्पन्न—परम आनंदस्वरूप—सुखामृतके रसके स्वादको नहीं प्राप्त हुआ

यह जीव जो देखेहुए, सुनेहुए तथा अनुभवमें लयेहुए भोगोंमें निरन्तर चित्तको देता है वह निदान शक्त कहलाता है । इस प्रकार उक्त लक्षणके धारक जो माया, मिथ्या और

निदानरूप तीन शक्त्यस्वरूप विभाव परिणाम है इनको आदिलेके जो संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप संकल्प विकल्प है उनमें रहित और परम निजत्वभावके जाननेसे उत्पन्न जो

समर्थ परमानन्दरूप एक लक्षणस्वरूप सुखामृत उसके रसके आस्वादनसे प्राप्त हुआ ऐसा जो अपना आत्मा है उसके द्वारा जो (स्व) निजभस्वरूपका (सं) गलेप्रकार अर्थात् नि-

कल्परूपसे 'बेदन' जानना अर्थात् अनुभवमें करना है वही निश्चयज्ञान कहलाता है ॥

शास्त्रोक्ति । अग्नादिति चेत् वस्तुमाहकं प्रमाणं; वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं; ज्ञानेन पुन-
त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो; न च वस्तु । सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्न-
त्वात् संशयविमोहविध्वंसरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम् । म च प्रदीपवत् स्वरगतं सा-
म्यं विशेषं च जानाति । तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति ।

यहांपर शिष्य कहता है कि हे गुरो ! यदि आप आत्मा (अपने)को ग्रहण करनेवाला
तो है उसको दर्शन, और जो पर पदार्थको ग्रहण करनेवाला है उसको ज्ञान कहते हैं तो
त्यादिकोके मतमें जैसे ज्ञान आत्माको नहीं जानता है; वैसेही जैन मतमेंभी ज्ञान आ-
त्माको नहीं जानता है; ऐसा दूषण प्राप्त होता है । अब इस शिष्यकी शंकाको आचार्य
करते हैं कि नैयायिकमतमें ज्ञान जुदा और दर्शन जुदा इस प्रकारसे दो गुण नहीं हैं
अर्थात् ज्ञान और दर्शन ये दो जुदे २ गुण नहीं हैं । इस कारण उन नैयायिकोंके आ-
त्माको जाननेके अभावरूप दूषण प्राप्त होता है अर्थात् आत्माका ज्ञान न होनेरूप दोष
होता है, और जैनमतमें आत्मा ज्ञान गुणसे तो पर पदार्थको जानता है तथा दर्शन गुणसे
जलाको जानता है इस कारण जैनमतमें आत्माके जाननेका अभावरूप जो दूषण है यह
प्राप्त नहीं होता अर्थात् जैनमतमें आत्माका जानना सिद्ध ही है । यह दूषण क्यों नहीं होता
है यह पूछो तो उत्तर यह है कि; जैसे एक भी अग्नि दहन गुणसे जलाता है इस हेतुसे
दाहक कहलाता है, और पाचनरूप गुणसे पकाता है इस कारण पाचक कहलाता है । इस
प्रकार विषयके भेदसे दाहक-पाचक रूप दो प्रकार भेदको प्राप्त होता है अर्थात् एकही अग्नि
दाहक और पाचकभेदसे दो प्रकारका है । उसी प्रकार अभेदनयसे एकभी चैतन्य भेदनयकी
विवक्षामें जब आत्माको ग्रहण करनेवाले रूपसे प्रवृत्त हुआ तब तो उसका 'दर्शन' यह
नाम हुआ और फिर जब पर पदार्थको ग्रहण करनेरूप प्रवृत्त हुआ तब उस चैतन्यका
'ज्ञान' यह नाम हुआ इस प्रकार विषयके भेदसे चैतन्य दो प्रकारसे भेदको प्राप्त होता
है अर्थात् एकही चैतन्य दर्शन और ज्ञानरूप भेदसे दो प्रकारका होता है । और विशेष
बाधा यह है कि, यदि सामान्यके ग्रहण करनेवालेको दर्शन और विशेषके ग्रहण करनेवाले-
को ज्ञान कहा जावे तो ज्ञानके प्रमाणताकी प्राप्ति नहीं होती है । ज्ञानके प्रमाणत्व क्यों
नहीं होता यह शंका करो तो समाधान यह है कि, जो वस्तुको ग्रहण करनेवाला है उसको
प्रमाण कहते हैं । और वस्तु सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूप है, और ज्ञानने व-
स्तुका एक देश जो विशेष है वह ही ग्रहण किया न कि संपूर्ण वस्तु और सिद्धान्तसे नि-
श्चयनयकी विवक्षामें गुण और गुणिके भेद नहीं है, इस कारण संशय, विमोह (अनध्य-
वसाय) और विभ्रम (विपर्यय) इन तीनोंसे रहित जो वस्तुका ज्ञान है उम ज्ञान स्वरूप
आत्माही प्रमाण है । क्योंकि, ज्ञान आत्माका गुण है और आत्मा ज्ञान गुणको धारण क-
रता है इसलिये गुणी है, गुण और गुणिके निश्चयसे अभेद है । और वह प्रमाण जैन म-

अज्ञात विषयः-- सत्ताकलोचनदर्शनस्य ज्ञानेन यद् भेदो ज्ञापयतावदिदानीं यत्परवार्थ-
 अज्ञानस्य सत्यगदर्शनं सत्यविवक्षास्वरूपं सत्यगज्ञाने तद्योविदोषो न ज्ञायते । अज्ञानादितिचेत्-
 सत्यगदर्शनं यदाथेनिश्चयोर्ज्ञानं, तथैव सत्यगज्ञाने च यो विदोष इति । अत्र परिहारः ।
 अज्ञानपरिचयस्यैव अज्ञानं भण्यते, तथैव भेदनयेन बीतरागसर्वज्ञप्र-
 योगशुद्ध्यादिसकलवैध्वज्यसंश्लेषमैवेति निश्चयसत्यविवक्षामिति । अविषयस्वरूपेणाभेदनयेन पुनर्य-
 देव सत्यगज्ञाने तथैव सत्यविवक्षाति । अज्ञानादिति चेत्-अतएव सत्यवबुद्धिरदेव देवबुद्धिरथमे-
 तदंशुद्धिरन्यादिविपरिणामिनिवेद्यारहितस्य ज्ञानस्यैव सत्यविवक्षेपणवाच्योऽयमाविशेषः स-
 त्ववयव्यं भण्यते यतः कारणान् ।

अब यहाँ सिद्ध्य कहता है कि हे गुरो! सत्ताका अवलोकन करनेवाला जो
 दर्शन है उसका तो ज्ञानके साथ भेद जाना । अब " जो सत्त्वार्थका अज्ञानकरनेरूप
 सम्यग्दर्शन और पदार्थका विचारकरणे स्वरूप सम्यग्ज्ञान है " इन दोनोंमें भेद नहीं
 जाना जाता । क्यों यहाँ जाना जाता ! यह पूछें तो उत्तर यह है कि, जो पदार्थका
 निश्चय सम्यग्दर्शनमें है वही सम्यग्ज्ञान में है । इस लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञा-
 नमें क्या भेद है अर्थात् कुछ भी नहीं । अब इस सिद्ध्यकी शंकाका आचार्य समाधान करते
 हैं कि, पदार्थके ग्रहण करनेमें जाननेरूप जो क्षयोपशम विशेष है, वह ज्ञान कहलाता है ।
 और उस ज्ञानमें ही भेदनयरो जो बीतराग सर्वज्ञ भीजिनेन्द्रद्वारा कहेहुए शुद्ध आत्मा
 यदि तत्त्व है उनमें यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है, इस प्रकारका जो निश्चय है वह
 सम्यक्त्व है । और अभेदनयसे अर्थात् अभेदरूपसे तो जो ही सम्यग्ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन

है। ऐसा किस कारणसे है? यह पूछो तो उत्तर यह है कि, तत्त्व नहीं है उसमें बुद्धि करना, देव नहीं है उसमें देवकी बुद्धि करना और अधर्ममें धर्मकी बुद्धि त्यादि रूपसे जो विपरीत अभिनिवेश (उलटा आम्रह) है; उस विपरीताभिनिवेशके जो ज्ञान है; उसीका जो सम्यग् इस विशेषणसे कहे जानेवाला अवस्थाविशेष है। म्यक्त्व कहलाता है। यही इस अर्थके करनेमें हेतु है।

यदि भेदो नास्ति तर्हि क्षयमावरणद्वयमिति चेत्-तत्रोत्तरम्। येन क्षयोपशमः प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपशमविशेषस्य यत् कर्म क्षयं विपरीताभिनिवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसंज्ञेति भेदतयेनावरणभेदः। पुनरभेदविबन्धायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम्। एवं दर्शनपूर्वकं सीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ४४ ॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें भेद नहीं है तो आठ कर्मोंमें दर्शनावरण, ज्ञानावरण ये दो आवरण कैसे कहे गये हैं यह शंका करो तो! यहां समाधानरूप उत्तर है कि, जिस कर्मसे पदार्थके जाननेरूप क्षयोपशम ढका जाता है; उसकी तो यह संज्ञा है। और उस ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके जो कर्म पहले कहे हुये जाते विपरीत अभिनिवेशको उत्पन्न करता है; उसकी मिथ्यात्व यह संज्ञा है। इस भेदनपमे आवरणका भेद है। और अभेदकी विवक्षामें कर्मत्वके प्रति जो दो भाग उन दोनोंको एकही जानना चाहिये। इस प्रकार दर्शन पहले हो लेता है सब ज्ञान है; ऐसे व्याख्यान करनेवाली जो गाथा है वह समाप्त हुई ॥ ४४ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयारमकमोक्षमार्गदृष्टीयात्रयवभूतं शशुद्धोपायभूतं शशुद्धोपयोग्यद्वयप्रतीतिप्रसंगवारिप्रस्य पारम्पर्येण शापकं सारागचारित्रं प्रतिपादयति।

अथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके पीछे होनेवाला रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है; उहीमार्ग अवयवरूप और नित्रशुद्ध आत्माके अनुभवस्वरूप जो शुद्धोपयोग्यरूप कर्तव्य शशुद्ध-वीरगगनारि है, उसके परंपराके साधनेवाला जो सारागचारित्र है; उसका प्रतिपादन करने हैं।

गाथा। असुद्धादो विगिगिस्ति सुहे पविष्ठा य जाण चारित्तं।
यदममिदिगुस्तिस्स्यं ययहारणयादु जिणमणिपम् ॥ ४५ ॥

शान्ताभावायः—जो अशुभ (दुर) कार्यमें दूर होना और शुभ कार्यमें प्राण होना वह हीमार्ग है उसको चारित्र जानना चाहिये। धीप्रिनेन्द्रदेवने व्यवहारवचने इस चारित्रके ५, २३, ५, सर्वज्ञ और ३ गुणितरूप कहा है ॥ ४५ ॥

व्याख्यान। अथैव शशुद्धोपयोग्यद्वयप्रतीतिप्रसंगवारिप्रस्य पारम्पर्येण शापकं सारागचारित्रं प्रतिपादयति।

तत्त्वादिमन्त्रद्वयपुपशमक्षयोपशमभ्रये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरि-
 का सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवासावसुखाभूतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेपु
 नो हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती प्रतरहितो दर्शनिको भण्यते ।
 मत्याख्यानावरणसंश्लिष्टीयकपायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे
 यथाशक्त्या प्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती भावको भण्यते ।

व्याख्यानार्थः—अब प्रथम ही इसी सरागचारित्रका अवयवरूप जो देशचारित्र है उ-
 का कथन करते हैं । यह इस प्रकार है—मिथ्यात्व आदि सात ७ प्रकृतियोंका उपशम,
 योपशम अथवा क्षय होनेपर अथवा अध्यात्मभाषाके अनुसार निज शुद्धआत्माके सन्मुख
 रिपाम होनेपर जो जीव शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न-विकाररहित-यथार्थ सुखरूपी
 प्रकृतको ग्रहण करने योग्य करके, संसार शरीर और भोगोंमें हेयबुद्धि है अर्थात् संसार,
 शरीर और भोग ये सब त्यागने योग्य हैं ऐसा समझता है, और सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है;
 इसको चतुर्थ गुणस्थानमें रहनेवाला प्रतरहित दर्शनिक कहते हैं । और जो मत्याख्या-
 वरण नामक दूसरे क्रोधादिकपायोंका क्षयोपशम होनेपर पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और
 लसति इन पांच स्थावरोंके वधमें प्रवृत्त हो तो भी अपनी शक्तिके अनुसार व्रसजीवोंके
 वधसे रहित होता है अर्थात् यथाशक्ति बेहन्द्रिय आदि व्रसजीवोंकी हिंसा नहीं करता है
 इसको पंचम गुणस्थानवर्त्ती भावक कहते हैं ।

तत्त्वादिमन्त्रभेदाः कथ्यन्ते । तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुल्यागोदुम्बरपञ्च-
 कारिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् सङ्गामादिप्रवृत्तौऽपि पापकर्मोदिभिनिष्पयोजनजीवपा-
 कादो निवृत्तः प्रथमो दर्शनिकभावको भण्यते । स एव सर्वथा प्रसवधे निवृत्तः सन् पञ्चा-
 गुणप्रवृत्तप्रवृत्तशिक्षाव्रतचतुष्टयसहितो द्वितीयव्रतिकसंज्ञो भवति । स एव त्रिकालसामायिके
 प्रवृत्तः तृतीयः, प्रोपधोपवासे प्रवृत्तचतुर्थः, सचित्तपरिहारेण पञ्चमः, दिवा ब्रह्मचर्येण षष्ठः,
 सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तमः, आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तौऽष्टमः, ब्रह्मप्रवणं विहायान्य-
 सर्वपरिग्रहनिवृत्तौ नवमः, महव्यापारादिसर्वसावगानुभवनिवृत्तौ दशमः, उरिष्टाहारनिवृत्त
 पञ्चादशम इति । एतेष्वेकादशभावकेषु मध्ये प्रथमपट्टं तारत्वयेन जपन्यम्, ततश्च प्रथं
 मध्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति सङ्क्षेपेण दर्शनिकभावकायेकादशभेदाः शातव्याः ॥

अब उस पंचम गुणस्थानवर्त्ती भावकके ग्यारह ११ भेदोंको कहते हैं । वे इस प्रकार
 हैं—पहले सम्यग्दर्शनको धारण करके मद्य (मदिरा), मांस और सहृद इन चीनोंके
 और उदुम्बर आदि पांच फलोंके त्यागरूप जो आठ मूलगुण हैं उनसहित हुआ जो
 जीव शुद्ध आदिमें प्रवृत्त होनेपर भी शिकार आदिसे प्रयोजनके बिना जीवपात्र नहीं करता है
 उसको पहला दर्शनिक भावक कहते हैं । और वही प्रथम दर्शनिक भावक जब व्रसजी-
 वकी हिंसासे सर्वथा रहित होकर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे सहित
 होता है तब दूसरा व्रतिक (व्रती) इस नामका धारक होता है । वही—जब त्रिकाल सामा-
 यिकमें प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाका धारी होता है । प्रोपध उपवासमें प्रवृत्त होता

है तब चौथी प्रतिमाका धारी होता है। सचिचके त्यागसे पांचवीं प्रतिमाका धारक होनेसे दिनमें ब्रह्मचर्य धारण करनेसे छठी प्रतिमावाला कहलाता है। सर्वथा धारण करनेसे सप्तम प्रतिमाका धारी होता है। आरंभ आदि संपूर्ण व्यापारोंसे रहित होता है अष्टम प्रतिमाका धारी कहा जाता है। वस्त्रके आच्छादनको छोड़कर अन्य सब परिशुद्ध होता है तब नवमी प्रतिमाका धारक होता है। ग्रहसंबंधी व्यापार आदि संपूर्ण सासहित) कार्योंमें जब संमति (सलाह) देनेसे रहित होता है तब दशमी प्रतिमाका कहलाता है। अपने निमित्त कियेहुए आहारका त्याग करनेवाला ग्यारहवीं श्रावक कहा जाता है। इन प्रतिमाभेदसे ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके बीचमें जो प्रतिमायें हैं उनमें रहनेवाले तारतम्य (हीनाधिकता) से जघन्य श्रावक सातवीं आठवीं और नवीं इन तीन प्रतिमाके धारक मध्यम श्रावक और ग्यारहवीं इन दो प्रतिमाओंके धारक उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार चारित्रिक दर्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहियें।

अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तरं सकलचारित्रमुपदिशति । “असुहादो विगिनिवि पवित्री य जाण चारिचं” अशुभान्निवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारिप्रम् । तत्र स्मृतं—“वदसमिदिगुत्तिरुवं बवहारणयादु जिणभणियं” अतसमितिगुत्तिरुवं चारिचिनेरुत्तमिति । तथाहि—प्रत्याख्यानावरणसंज्ञकृतीयकपायक्षयोपशमे कसाभोगादोदुस्सुदिदुचित्तुदुग्गोद्विजुदो । उग्गो उमग्गपरो उवओगो जरस सो भमुरो इति गायाकथितलक्षणानुभोपयोगान्निवृत्तिलक्षणेषु शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च रिचं जानीहि । तथाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण रूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति । तत्र योऽपि विषये पञ्चन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण, यथाप्यन्तरे परिहारः स पुनरनुद्विन्द्ययेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः । एवं निश्चयचारित्रसाधकं चारित्रं व्याख्यातमिति ॥ ४५ ॥

अथ इम एकदेशचारित्रके व्याख्यानके पश्चात् सकलचारित्रका उपदेश करते हैं। “असुहादो विगिनिवि सुहे पवित्री य जाण चारिचं” हे शिष्य! अशुभसे निवृत्ति (पवित्रता) और शुभमें जो प्रवृत्ति है उसको चारित्र जानो। वद केसा है “वदसमिदिगुत्तिरुवं बवहारणयादु जिणभणियं” अतसमिति और गुत्ति स्वरूप है; ऐसा व्यवहारनामक अर्थनेत्रेण कहा है। गों ही दिशाने है—प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरे कृत्याका ही पशुन होनेपर “त्रिमका-विषयो और कथायोंमें गादा, दुःश्रुति (बुरा वाक्यकथन) दुःचिन्त और दुष्ट गोष्टी (बुरी संगति) इनमें रहित, उम तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) में स्थान लेना उपयोग है वद जीव अशुभमें जित दे । १ ।” इस गाथामें कहेहुए अर्थोंमें चारित्र अशुभोपयोगमें रहितपना और उक्त अशुभोपयोगमें विवक्षण (उकटा) को दूरे

है उसमें प्रवृत्त होना जो है उसको हे शिष्य । तुम चारित्र जानो । और वह चारित्र, भगवती आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें कहेहुए प्रकारसे पांच महाव्रत, गंध समिति और तीन गुप्तिरूप है तो भी अपहृतसंयमनामक शुभोपयोगलक्षणका धारक, सरागचारित्र नामक चारित्र होताहै । उसमें जो बाह्यविषयोंमें पांचों इन्द्रियोंके विषय वगैरहका त्याग है वह तो उपचरित—असद्भूत—व्यवहारनयसे चारित्र है; और जो अन्तरंगमें राग आदिका त्याग है वह अशुद्ध निश्चयनयसे चारित्र है; इस प्रकार नयोंका विभाग जानना चाहिये । ऐसे निश्चयचारित्रको साधनेवाला जो व्यवहारचारित्र है उसका व्याख्यान किया गया ॥ ४५ ॥ ।

अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साम्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति ।

अब इसी पूर्वोक्त व्यवहारचारित्रसे सिद्ध होने योग्य जो निश्चयचारित्र है उसका निरूपण करते हैं । ।

गाथा । बहिरन्भंतरकिरियारोहो भयकारणपणासट्टं ।

णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४६ ॥

गाथाभावार्थः—ज्ञानी जीवके जो संसारके कारणोंको नष्ट करनेके लिये बाध और अन्तरंग क्रियाओंका निरोध है; वह श्रीजिनेन्द्रसे कहाहुआ उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ॥४६॥

व्याख्या । “ सं ” तन् “ परमं ” परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंविद्ययात्मकशुद्धोपयो-
गाविनाभूतं परमं “ सम्मचारित्तं ” सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम् । तर्हि—“ बहिरन्भंतर-
किरियारोहो ” निष्पिन्यनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपन्नभूतस्य
बहिरुपये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च
क्याव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः स च किमर्थं “ भयकारणपणासट्टं ” पञ्चप्रकारभ-
यानिनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशु-
भकामाद्यवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति । इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति ।
“ णाणिस्स ” निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः । पुनरपि किं विशिष्टं “ जं जिणुत्तं ” यच्चिनेन
वीतरागसंबन्धेनोक्तमिति ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थः—“ तं ” वह “ परमं ” परम उपेक्षा (अनादर) स्वरूप लक्षणका धा-
रक, और विकाररहित निजसंवेदनरूप जो शुद्धोपयोग है उससे व्याप्त होनेमें उत्कृष्ट
“ सम्मचारित्तं ” सम्यक् चारित्र जानना चाहिये । वह क्या ! “ बहिरन्भंतरकिरिया-
रोहो ” क्रियारहित—नित्य—निरंजन और निर्मल ज्ञान तथा दर्शनरूप समावका धारक
जो अपना आत्मा है उससे प्रतिपन्नभूत (प्रतिकूल)—बाध विषयमें शुभ—अशुभ—वचन
कायके व्यापाररूप, और इसी प्रकार अन्तरंगमें शुभ—अशुभ—मनके विकल्परूप जो वि-
याका व्यापार है उसका जो निरोध अर्थात् त्याग है वह । वह त्याग किस लिये है । “ भ-
यकारणपणासट्टं ” पांच प्रकारके संसारसे रहित जो निर्दोष परमात्मा है उससे विभक्त

क्षणका धारक जो संसार उसके व्यापारका कारणभूत जो शुभ—ज...
 सके विनाशके लिये है । पूर्वोक्त प्रकारसे बाह्य और अंतरंग भेदसे जो दो प्रकारकी
 उनका त्यागरूप चारित्र किसके होता है ? “ गाणिसस ” निश्चय रत्नत्रयत्वरु
 ज्ञानके धारक जीवके । फिर कैसा है वह चारित्र ? “ जं जिणुचं ” जो जिन वर्त
 वीतरागसर्वज्ञदेवसे कहा हुआ है ॥ भावार्थ—ज्ञानी जीवके संसारके
 करनेके लिये जो बाह्य और अंतरंगकी शुभ अशुभ क्रियाओंका त्याग होता है
 श्रीजिनेन्द्रद्वारा कहाहुआ परम सम्यक्चारित्र है ॥ ४६ ॥ ।

एवं वीतरागसम्यक्त्वज्ञानाविनाभूतं
 वीतरागचारित्रं व्याख्यातम् ॥ इति द्वितीयस्थले गाथापट्टं गतम् ।

इस प्रकार वीतरागसम्यक्त्व और ज्ञानके विना नहीं होनेवाला और
 जो निश्चयमोक्षमार्ग है उसका तीसरा अवयवरूप जो वीतरागचारित्र है उसका
 क्रिया ॥ ऐसे दूसरे स्थलमें ६ गाययें समाप्त हुई ॥

एवं मोक्षमार्गप्रतिपादकतृतीयाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसंक्षेपकथनेन
 यम्, तदनन्तरं तस्यैव मोक्षमार्गस्वावयवभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां
 रूपेण सूत्रपट्टं चेति स्थलद्वयसमुदायेनाष्टगाथाभिः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

इस प्रकार मोक्षमार्गको प्रतिपादन करनेवाला जो तीसरा अधिकार है उसमें-विषय
 और व्यवहाररूप मोक्षमार्गके कथनसे दो सूत्र और उसके पश्चात् उसी मोक्षमार्गके आर
 रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं उनके विशेष व्याख्यान रूपसे छः सूत्र, इस
 निम्ने दो स्थलोंके समुदाय (जोड़ने) से जो आठ गाययें हैं उनसे प्रथम अन्तराधिकार
 समाप्त हुआ ॥

अतः परं ध्यानध्यातृध्येयध्यानकटककथनमुत्पद्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयम्, ततः परं पंच
 परमेश्वरध्यायानरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्, ततश्च तस्यैव ध्यानस्त्रोपसंहाररूपेण
 ध्याचयानेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयमिति स्थलत्रयसमुदायेन द्वादशसूत्रेषु द्वितीयान्तराधिकारो
 मनुदायपाननिष्ठा । तथा हि—निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यासं कुरुष्व दृष्टि
 त्पुरदिशति ।

अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला), ध्येय (ध्यान करनेयोग्य वस्तु)
 और ध्यानका फल इनके कथनकी मुख्यतामें प्रथम स्थलमें तीन गाययें, इसके पश्चात्
 परमेश्वरके व्याख्यानरूपमें दूसरे स्थलमें पांच गाययें; और इसके अनन्तर उसी ध्यान
 उपसंहाररूप विशेष व्याख्यानद्वारा तीसरे स्थलमें चार गाययें इस प्रकार तीन अन्तरा
 मनुदायके अष्ट गाययोंका धारक जो तृतीय अधिकारमें दूसरा अन्तराधिकार है उनमें
 मनुदायके अष्ट गाययें हैं । उनमें प्रथम ही तुम निश्चय और व्यवहारमोक्षमार्गको उपसंहार
 के ध्यान है उसका अर्थकम बगैरे ऐसा उपदेश देने है ।

गाथा । द्रुविहं पि मुग्धहेडं ज्ञाने पाऊणदि जं मुणी गियमा ।
तस्मा पपत्तचित्ता जूर्यं ज्ञानं समन्भसह ॥ ४७ ॥

गाथाभावार्थः—मुनि ध्यानके करनेमे जो नियमसे निश्चय और व्यवहार इन दोनों में मोक्षमार्गको प्राप्त है । इस कारणमे हे भग्ये तुम ! चित्तको एकामकरके ध्यानका नम करो ॥ ४७ ॥

व्याख्या । “द्रुविहं पि मुग्धहेडं ज्ञाने पाऊणदि जं मुणी गियमा” द्विविधमपि मोक्ष-
ध्यानेन प्राप्नोति धम्माम् मुनिर्नियमान् । तथा —निश्चयरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षहेतुं
व्यवहारमोक्षमार्गं, तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च ये
व्यसापकभावेन कपित्थवान् पूर्वं तद्विविधमपि निर्विकारस्वसंविद्यारत्नकपरमध्यानेन मुनिः
तेति धम्मकारणान् “तस्मा पपत्तचित्ता जूर्यं ज्ञानं समन्भसह” तस्मात् प्रयत्नचित्ताः
तो हे भग्ये जूर्यं ध्यानं सम्पगभ्यसत । तथा हि तस्मात्कारणाद्दृष्टशुतानुभूतनानामनो-
रूपसमन्नुभानुभवागादिविकल्पजालं त्यक्त्वा परमस्वार्थ्यसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षण-
तद्वृत्तसाक्षादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यासे कुरुत यूयमिति ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थः—“द्रुविहं पि मुग्धहेडं ज्ञाने पाऊणदि जं मुणी गियमा” जिससे
मुनि नियमसे ध्यान करके दोनों प्रकारसे मोक्षकारणोंको प्राप्त होता है । वे दोनों मो-
क्षकारण इस प्रकार हैं—निश्चयरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षकारण अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग
र इसी प्रकार व्यवहाररत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षहेतु अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग, इन दो-
नों पहले साध्यसाधकभावसे अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साध्य (साधनेयोग्य) है और
व्यवहारमोक्षमार्ग साधक (निश्चयमोक्षमार्गका साधनेवाला) है इस रूपसे जो पहले कहा
उस दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको मुनि जिस कारणसे विकाररहित-निजसंवेदनस्वरूप-
नध्यानकरके प्राप्त होता है “तस्मा पपत्तचित्ता जूर्यं ज्ञानं समन्भसह” इसी
रूपसे एकामचित्त होकर हे भग्यजनो ! तुम मले प्रकारसे ध्यानका अभ्यास करो—अर्थात्
वे ध्यानसे दोनों मोक्षमार्गोंको प्राप्त होते हैं इस कारणसे तुम देखा हुआ, सुना हुआ,
और अनुभव किया हुआ जो अनेक प्रकारके मनोरथरूप संपूर्ण शुभ-अशुभ-राग आदि
दृष्ट्योंका समूह है उसका त्याग करके और परमनिजस्वरूपमें स्थित होनेसे उत्पन्न हुआ
। सहज आनन्दरूप एक लक्षणका धारक सुखरूपी अमृतसके आस्वादका अनुभव है उ-
में स्थित होकर ध्यानका अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

अथ ध्यानपुरपलक्षणं कथयति ।

अथ ध्यान करनेवाले पुरुषके लक्षणको कहते हैं ।

गाथा । मा मुज्झह मा रज्जह मा दसह इट्टनिट्टअट्टेसु ।

धिरमिच्छहि जइ चित्तं विचिन्तज्ज्ञाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥

गाथाभावार्थः—हे भग्यजनो ! यदि तुम नाना प्रकारके ध्यान अथवा विकल्प रहित

गाथा । पणतीसमोऽस्यपञ्चमः उदुगमो च जगद्ग्राहः ।

परमेष्ठिवाचयाणं अणं च गुरुवण्मेण ॥ ४१ ॥

गाथाभाचार्यः—पंच परमेष्ठियोंको कहनेवाले जो पैंतीस, सोलह, छः पांच, और एक अक्षररूप मन्त्रपद हैं उनका ज्ञापक क्रमों और अणुत्तम क्रमों इतके विषय मन्त्रपद हैं उनको भी गुरुके उपदेशानुसार जो और अणुत्तमों ॥ ४१ ॥

व्याख्या ।—“पणतीस” “णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, उसायाणं, णमो लोप सञ्चसाहणं” एतानि पञ्चविंशत्यक्षराणि सार्वदाणि मन्त्रानि । अरिहंतं सिद्ध आचार्य उवञ्जाय साहू एतानि षोडशाक्षराणि नामदाणि मन्त्रानि ‘अरिहंतसिद्ध’ एतानि षडक्षराणि अरिहंतस्योनांमपदे द्वे मन्त्रानि । “पण” ‘असा’ एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि मन्त्रानि । “चदु” “अरिहंत” नामपदम् । “दुग” सिद्ध इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम् । “एणं च” ‘अ’ आदिपदम् । अथवा ‘ओं’ एकाक्षरं । रीरा आयरिया तद् उवञ्जाया मुणियो । पञ्चमस्वरनिष्पन्नो ईकारो पंच परमेष्ठौ । गाथाकथितप्रथमाक्षराणां ‘समानः सयणं क्षीर्षीभवति’ परञ्च लोपम् ‘उवञ्जे ऊ’ निधिविधानेन ओं शब्दो निष्पद्यते । ऋग्मादिति—“जगद् ग्राहः” एतेषां पदानां पदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोकेष्टफलप्रदानामर्थं रूपेण वचनोच्चारणेन च आपं श्रुतम् । तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुणावस्थ्यायां मौनेन पुनरपि कथम्भूतानां “परमेष्ठिवाचयाणं” “अरिहंतं” इति युक्तोऽहंद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्चपरमेष्ठिवाचकानां । “अणं च गुरुवण्मेः” दपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारप्रत्यक्षकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं दिवैवाचनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम् । इति स्वरूपं व्याख्यातम् ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थः—“पणतीस” ‘णमो अरिहंताणं १ णमो सिद्धाणं २ णमो आयरियाणं ३ णमो उवञ्जायाणं ४ णमो लोपसञ्चसाहणं ५ ये पैंतीस अक्षर ‘सर्वपद’ कहलाते हैं । “सोल” ‘अरिहंतं सिद्ध आचार्य उवञ्जाय साहू’ ये सोलह अक्षर पंचपरमेष्ठियोंके नाम पद कहलाते हैं । “छ” ‘अरिहंतसिद्ध’ ये छः अक्षर अर्हत् तथा सिद्ध इन दो परमेष्ठियोंके दो नाम पद कहे जाते हैं । “पण” ‘असिआउसा’ ये पांच अक्षर पंच परमेष्ठियोंके नाम पद कहलाते हैं । “चदु” ‘अरिहंतं’ ये चार अक्षर अर्हत् परमेष्ठियोंके नामपद रूप हैं । “दुग” ‘सिद्ध’ ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठियोंके नामपद रूप हैं । “एणं च” ‘अ’ यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठिका आदिपद है; अथवा ‘ओं’ यह एक अक्षर पांचों परमेष्ठियोंके आदिपदस्वरूप है । ‘ओं’ यह परमेष्ठियोंके आदिपद रूप कैसे है ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि अरिहंतका प्रथम अक्षर ‘अ’ असरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर ‘अ’ आचार्यका

अथ 'अ' रूपं चत्वारः प्रथमं चत्वारः 'उ' मुक्तिका प्रथमं अक्षरं 'ग' इत्यप्रकारं इन पांचों
 'उ' के प्रथम अक्षरों में मिश्र जो लोकार्थ है वही पंचपरमेष्ठियोंके समान है । इस
 अक्षरों के रूप को प्रथम अक्षर (अ अ आ उ मू) है इनमें पहले 'समानः सर्वों
 के अक्षरों' इस रूपमें दर्शित जा सकता है 'परमेश्वर' इत्यने पर अक्षरका लोप करके अ
 अ इन लोपके स्थानमें एष, आ मिश्र किया फिर "उच्यते ओ" इस सूत्रमें आउके
 अके लोपका ऐसे अक्षरोंमें 'ओम्' यह शब्द मिश्र होता है । इस कारण
 यह अक्षर 'ओम्' इत्ये अक्षरोंके पद्योंमें आरभ्य और इस लोक तथा परलोकमें इष्ट
 को देवेदार्य इन पूर्वोक्त पद्योंका अर्थ जान कर फिर अनन्तज्ञान आदि गुणोंके स्मरण-
 इत्यनेका उच्चारण करके जाय करो और इसी प्रकार गुणोपयोगरूप जो मन, बचन,
 इन तीनोंकी मुक्ति स्वरूप अवस्था है उद्योगमें मीन द्वारा इन पूर्वोक्त पद्योंका ध्यान
 । फिर जैसे इन पद्योंको जपो ध्याये । "परमेश्वराचरणम्" अतिरिक्त इस पदरूप
 है और अनन्त ज्ञान आदिगुणोंमें गुण जो भीविनेन्द्र है वह इस पदका वाच्य
 'अने योग्य' है; इत्यादि प्रकारमें पंचपरमेष्ठियोंके वाचकोंको । "अणलं च गुरुवत्सेण"
 इन पूर्वोक्त पद्योंमें अन्यथा भी जो कि शारदहजार सौक्यंश्या प्रमाण पंचनमस्कार-
 न्य अक्षर संघमें यह हुए प्रकारमें लघुमिद्वचक, बृहत्मिद्वचक इत्यादि देवोंके
 पूर्वोक्त विधानको भेदाभेदरूपप्रत्ययके आराधक गुरुके प्रसादसे जानकर ध्यान करना
 चाहिए । इस प्रकार पदार्थ ध्यानके स्वरूपका कथन किया ॥ ४९ ॥

एतन्मते प्रकारेण " गुणेन्द्रियमनो ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् । एकवचिन्तनं
 चान्तं चतुर्भुवनं ॥ १ ॥ " इति श्लोककथितलक्षणानां ध्यातृध्येयध्यानफलानां
 बक्षेणध्यातृध्यानरूपेण गाथात्रयेण द्वितीयान्तराधिकारं प्रथमं स्थलं गतम् ।

इस प्रकार " पांचों इन्द्रियों और मनको रोकनेवाला ध्याता (ध्यानी) है; यथास्थित
 को पदार्थ है वह ध्येय है, एकप्रकार होकर जो विचारका करना है वह ध्यान है और संवर
 तथा निर्जग ये दोनों ध्यानके फल है ॥ १ ॥ " इस श्लोकमें कहे हुए लक्षणके धारक
 जो ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल हैं उनका संक्षेपमें कथन करनेरूप तीन गाथाओंसे
 द्वितीय जो अंतर्गाधिकार है उद्योगमें प्रथम स्थल समाप्त हुआ ॥

अतः परं रागादिविचल्लोपाधिरहितनिजपरमात्मपदार्थभावबोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुग्यासु-
 दार्याशुभदृष्टिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परस्परया कारणभूतं यत्पुत्रोपयोगलक्षणं व्यवहार-
 ध्यान लक्षणैवभूतानां पंचपरमेष्ठीनां मध्ये तावद्देहत्वरूपं कथयामीत्येका पातनिका । द्वि-
 तीया तु पूर्वसूत्रोदितमवपदानामपदादिपदानां वाचकभूतानां वाच्या ये पंचपरमेष्ठिनसद्व्या-
 याने क्रियमाने प्रथमतस्तत्वावजिनस्वरूपं निरूपयामि । अथवा तृतीया पातनिका पदस्य-
 निरूपकस्वरूपध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमहत्सर्वस्वरूपं दशवामीति पातनिकात्रय मनसि
 क्त्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब इसके आगे राग आदि विकल्परूप उगाभिमे गतिन जो निरु-
पदार्थ है उसकी भावनासे उत्पन्न और गदानन्दस्वरूप एक लक्षणे परक पु-
रसके आत्मादसे तृप्तिस्वरूप ऐसा जो निश्चयध्यान है उमत्ता परंपरासे क्रायनून जो
पयोगलक्षण व्यवहार ध्यान है उसके द्वारा ध्येय (ध्यान करने योग्य) मृत
परमेष्ठी हैं उनके मध्यमेंसे प्रथम ही जो अर्हत् परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपको कट्टई
पहली पातनिका है। पूर्वगाथाओं कहे हुए जो सर्वपद नामपद आदि वाचकमूत्र
उनके वाच्य जो पंच परमेष्ठी हैं उनका व्याख्यान करनेपर प्रथम ही श्रीत्रिनेत्रके
को निरूपण करता हूँ यह दूसरी पातनिका है। अथवा पदम्, विंडस्य ७। ११।
तीन ध्यानोके ध्येयमूत्र जो श्री अर्हत् सर्वज्ञ हैं उनके स्वरूपको दिखाना हूँ यह
पातनिका है। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओंको मनमें धारण करके
चक्रवर्ती भगवान् श्रीनेमिचन्द्रस्वामी इस अग्रिम गायामूत्रका प्रतिपादन करते हैं ॥

गाथाः—गट्टचदुघाङ्कम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।

सुहदेहत्यो अप्पा सुहो अरिहो विचिन्तिजो ॥ ५० ॥

गाथाभावार्थः—चार धातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाला, अनंत दर्शन, मुक्त,
और वीर्यका धारक, उत्तम देहमें विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह
उसका ध्यान करना चाहिये ॥ ५० ॥

व्याख्या । “ गट्टचदुघाङ्कम्मो ” निश्चयरत्नत्रयस्वरूपशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्व
कर्ममुख्यभूतमोहनीयस्य विनाशनाशान्तदन्तरं ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञयुगपद्वाविचरि-
नाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्धातिकर्मा । “ दंसणसुहणाणवीरियमईओ, तेनेव वि-
लक्ष्यानन्तचतुष्टयत्वान् सहजशुद्धाविनश्वरदर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः । “ सुहदेहत्यो ” निश्चये-
नाशरीरोऽपि व्यवहारेण सतपातुरहितदिवाकरसहस्रभासुरपरमौदारिकशरीरत्वान् सुमरे-
हस्यः । “ सुहो ” “ क्षया तृपा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा हता च
मृत्युश्च खेदः खेदो मदोऽरतिः । १ । विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः । एवंते-
विचिन्तुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ॥ २ ॥ ” इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशोपरदिवत्तान्
शुद्धः । “ अप्पा ” एवं गुणविशिष्ट आत्मा । “ अरिहो ” अरिशब्दवाच्यमोहनीयस्य, रज-
शब्दवाच्यज्ञानदर्शनावरणद्वयस्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरा यस्य च हननाद्विनाशात्मकज्ञान-
इन्द्रादिविनिर्माता गभीरतरणजन्माभिषेकनिःक्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्चन-
कल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते । “ विचिन्तिजो ”
इत्युक्तविशेषणैर्विशिष्टमात्रागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतरागसर्वज्ञाद्यष्टोत्तरसहस्रनामानमर्हन् वि-
नमद्वारकं पदस्यपिद्वस्वरूपस्यध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत हे भव्या यूपमिति ।

व्याख्यार्थः—“गट्टचदुघाङ्कम्मो” निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धोपयोगरूप
ध्यान है उसके द्वारा पहले धातियाकर्मोंमें प्रधान जो मोहनीयकर्म है उसका नाश करने

पक्षको करता है कि, सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि, उसका प्रत्यक्ष अथवा प्राप्ति नदी गंधेके सींगके समान । इस शंकाका उत्तर यह है—तुम जो सर्वज्ञकी अप्राप्ति इसमें हम पूछते हैं कि, सर्वज्ञकी प्राप्ति इस देश और इस कालमें नहीं है देशों और सब कालोंमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है ? यदि कहो कि, इस देश और इस सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है तब तो तुम्हारा कहना ठीक है, क्योंकि, हम भी ऐसा यदि तुम कहो कि, सब देशों और सब कालोंमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है । तो हम कि, तुमने यह कैसे जाना कि, अथो, ऊर्द्ध और मध्य भेदसे तीनों लोक तथा और वर्तमान ये तीनों काल सर्वज्ञ करके रहित हैं ? यदि तुम यह कहो कि, हमने कि, तीनों लोक और तीनों काल सर्वज्ञ रहित हैं तब तो तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हो जाते भावार्थ—जो तीन लोक तथा तीन कालके पदार्थोंको जानता है वही सर्वज्ञ है, सो यह जान ही लिया कि, तीनों लोक और तीनों कालोंमें सर्वज्ञ नहीं है । इस निवे सर्वज्ञ ठहरे । और जो तुमने 'तीन लोक व कालमें सर्वज्ञ नहीं' इसको नहीं जाना है फिर 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध कैसे करते हो । यहांपर दृष्टान्त यह है कि, कोई निषेध करनेवाला पुरुष घटका आधारभूत जो मूलक (जमीन) है उसको घटरहित जान लेता है तब कहता है कि, इस 'मूलकमें घट नहीं है' सो यह तो उरका ठीक है । परंतु जो नेत्रोंसे रहित है, वह जो 'इस मूलकमें घट नहीं है' ऐसा बचन कहे तो ठीक नहीं । इसी प्रकार जो तीन जगत् और तीन कालको सर्वज्ञ नहीं जानता है वह जो "तीन जगत् तथा तीन कालमें सर्वज्ञ नहीं है" यह कहे तो वह सर्वज्ञका निषेध किसी प्रकारसे भी नहीं कर सकता है । क्यों नहीं कर सकता ! पृथो तो उत्तर यह है कि, तीन जगत् और तीन कालको जाननेमें वह आप ही सर्वज्ञ अथवा जब वह आप ही सर्वज्ञ है तब सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कैसे कह सकता है ॥

अथोऽन्तगुणलक्षणैरिति हेतुवचनं सदस्यमुक्तम् । कग्गादिति धेनु—किं भवतः प्रत्यक्षः, किं जगत्प्रयच्छात्रयवर्तिपुरुषाणां वा ? यदि भवतामनुपलक्षणैश्चात्र नानिर्णयित, भवद्विरनुपलक्ष्यमानानां परकीयवित्तशृतिपरमाणुादिगुणमपदापानिर्णयः प्रयत्नः जगत्प्रयच्छात्रयवर्तिपुरुषाणामनुपलक्ष्यस्वरूपं ज्ञानं भवद्विः । ज्ञानं धेनुर्दि भवत्तु सर्वज्ञः इति पूर्वमेव भगिनं निश्चिनि । इत्यादिहेतुद्वयं ज्ञानस्यम् । यथोक्तं परस्मिन्वर्तिनि दृष्टान्तवचनं सदस्यमुक्तम् । गरे विद्याग नाम्नि गवादी निश्चिनीययन्ताभावो ज्ञानं वचनं तथा सर्वज्ञत्वानि निषेधदेशच्छात्रादिप्रभावेऽपि सर्वथा नास्ति न भवति इति दृष्टान्तवचनं गतम् ।

अब जो 'सर्वज्ञ नहीं है' इस वाक्यको सिद्ध करनेके लिये 'सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है' यह हेतु वचन कहा है वह भी अशुद्ध (ठीक नहीं) है । क्यों अशुद्ध है ?

अथ तत्रोक्तं तत्रोक्तं किं, तथा सर्वज्ञकी प्राप्ति तुल्ये नदी है या क्या तीन लोक
 के लिये समान अभाव है अथवा सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है? यदि तुम लोगोंको सर्वज्ञ प्राप्त
 होने लगे है तो हममें सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, जैसे अन्य पुरुषोंके
 लिये अभाव अभाव आदि अभाव अभाव अभाव जाननेमें नहीं आते हैं, तो भी
 मैं सर्वज्ञ अभाव अभाव नहीं है। इसी प्रकार तुल्ये जाननेमें नहीं आया हुआ सर्वज्ञ
 की है अभाव अभाव अभाव नहीं। अब कदाचित् यह बहो कि, तीन जगत् और तीन
 लोकके पुरुषोंके ही सर्वज्ञकी प्राप्ति है; तो हम पूछते हैं कि, क्या तुमने यह जान लिया?
 वे जान लिया कि सब को 'तुमही सर्वज्ञ हो' यह जो हमने पहले कहा है वही यहाँ
 कहा। इत्यादि अनेक दृषण हम 'अप्राप्ति' रूप हेतुमें जानने चाहिये। और जो
 तुमने 'सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि अभावकी प्राप्ति नहीं होती' इसको सिद्ध करनेके लिये
 अनेक शीघ्रके अभाव यह दृष्टान्तवचन कहा यह भी उचित नहीं है। क्योंकि, जैसे
 शीघ्र (शेष) के शीघ्र नहीं है परन्तु शीघ्र आदिके शीघ्र है इस लिये शीघ्रका अत्यन्त
 अभाव नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि सर्वज्ञका नियत किमी (कायम किये हुए) देश
 का अभाव आदिमें अभाव है सोभी उस सर्वज्ञका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता है, इस
 प्रकार दृष्टान्तमें दृषण दिखाना गया ॥

अथ मतम्—सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाणं निराकृतं भवद्विनाहि सर्वज्ञमज्ञानसाधकं प्रमाणं
 हि? इति दृष्टे प्रत्युक्तमाह—कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्मः, एवं
 धर्मविषयेमनुदायेन पक्षवचनम् । कस्यादिति चेत् पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावादिति
 हेतुवचनम् । विषय स्वयमनुभूयमानस्तुतदुत्तरादिवदिति दृष्टान्तवचनम् । एवं सर्वज्ञमज्ञाने
 फलेदृष्टान्तरूपेण व्यङ्ग्यमनुमानं विद्येयम् । अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते—रामरावणा-
 र्कः काष्ठान्तरिता, मेधांदयो देवान्तरिता, भूतादयः स्वभावान्तरिता, परचेत्तोदृतयः
 समापवादयश्च गृहस्पदाद्यां, धर्मिनः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म
 इति धर्मिधर्ममनुदायेन पक्षवचनम् । कस्यादिति चेत्—अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम् ।
 किञ्च यद्यदनुमानविषयं तत्तन् कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथाऽप्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनम् ।
 अनुमानेन विषयाश्रेति, इत्युपनयवचनम् । तस्मान् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनम् ।

अब कदाचित् वादी यह पूछे कि, आपने सर्वज्ञके विषयमें जो बाधकप्रमाण था उसका
 तो सोंटन कर दिया परन्तु सर्वज्ञके साक्षात्की अर्थान् सर्वज्ञ है इस कथनको सिद्ध करने
 का प्रमाण क्या है तो कहो। इस पर उत्तर देते हैं कि, कोई पुरुषविशेष धर्मी सर्वज्ञ है,
 इस रीतिमें किमी पुरुषविशेषको पक्ष करके उनमें सर्वज्ञत्व धर्म सिद्ध करते हैं। 'कश्चित्
 पुरुषो धर्मी सर्वज्ञो भवति' इस प्रकारके हमारे वाक्यमें धर्मी और धर्मके समुदायरूपसे
 जो पक्षवचन अर्थान् पक्षमें साध्यका निर्देश है यह प्रतिज्ञा है। क्योंकि—सर्वज्ञके होनेमें
 जो बाधक रीतिमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। 'तदस्त्वित्त्वे बाधकप्रमाणाभावात्' यह

हमारा हेतुका कथन है। किसके समान? अपने अनुभवमें आते हुए सुख दुःख आदिके (स्वयमनुभूयमानसुखदुःखादिवत्) यह दृष्टान्तका कथन है। इस प्रकार सर्वज्ञके (होने) में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूपसे तीन अंगका धारक अनुमान जानना चाहिये। अथवा सर्वज्ञके सद्भावका साधक दूसरा अनुमान कहते हैं। राम और रावण आदि कल्ले दूर वा ढके हुए पदार्थ, मेरु आदि देशसे अन्तरित पदार्थ, मृत आदि अपने स्वभावसे ढके हुए पदार्थ, तथा पर पुरुषोंके चित्तोंके विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ धर्मी हैं। 'किसी भी पुरुष विशेषके प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं' यह उन राम धर्मियोंमें सिद्ध करनेयोग्य धर्म है; इस प्रकार धर्मी और धर्मके समुदायसे पक्षवचन प्रतिज्ञा है। राम रावणादिक किसीके प्रत्यक्ष क्यों हैं? ऐसी शंकाको दूर करनेके 'अनुमानके विषय होनेसे' यह हेतु वचन है। किसके समान? 'जो जो अनुमानका है वह वह किसीके प्रत्यक्ष होता है जैसे, अग्नि आदि' यह अन्य दृष्टान्त है। और 'देश काल आदिसे अन्तरित पदार्थ भी अनुमानके विषय हैं' यह वचन है। इस लिये "राम रावण आदि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं" यह निगमन ...

इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते—यत्र कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न यथा स्वपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम् । अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम् । सम्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति । किन्त्वनुमानविषयत्वादित्यर्थं हेतुः सर्वज्ञस्वरूपे माध्ये सर्वप्रकारेण सम्भवति यतस्ततः कारणात्स्वरूपासिद्धभावामिद्धविशेषणाद्यसिद्धो न भवति । तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षं विहाय सर्वज्ञाऽभावं विपक्षं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न भवति । तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्तते तथा सर्वज्ञभावेऽपि विपक्षेऽपि न वर्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति । अनैकान्तिकः कोऽर्थो व्यभिचारीति । तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणवाधितो न भवति । तथैव च प्रतिवादिनां प्रसिद्धिः सर्वज्ञसद्भावं साधयति तेन कारणेनाकिञ्चित्करोऽपि न भवति । एवमसिद्धविरुद्धानैकान्तिक्याकिञ्चित्करहेतुदोषरहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव । इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावं पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानं ज्ञातव्यमिति ।

अब व्यतिरेक दृष्टान्तको कहते हैं— 'जो किसीके भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमानके विषय भी नहीं होते' जैसे कि, 'आकाशके पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्तका वचन है। और 'राम रावण आदि अनुमानके विषय हैं' यह फिर उपनयका वचन है। इस लिये 'राम रावणादि किमीके प्रत्यक्ष होते हैं' यह फिर निगमन वाक्य है। और 'राम रावणादि किमीके प्रत्यक्ष होते हैं अनुमानके विषय होनेसे' यहापर 'अनुभवके विषय होनेमें' यह जो हेतु है यह सर्वज्ञरूप जो साध्य धर्म है उसमें सर्व प्रकृतियों पर यह ही कारण यह उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध भावामिद्ध तथा विशेषण आदिसे अमिद्ध नहीं है। तथा उक्त हेतु—सर्वज्ञरूप जो अपना पक्ष है उगको छोड़कर सर्वज्ञका अभावरूप

जो विपक्ष है, उमको भिन्न नहीं करता है; इस कारण विरुद्ध भी नहीं है । और जैसे, ' सर्वज्ञके सद्भावरूप अपने पक्षमें रहता है वैसे सर्वज्ञके अभावरूप विपक्षमें नहीं रहता है; इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी भी नहीं है । और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे साधित नहीं है; इस लिये कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है । तथा सर्वज्ञको न माननेवाले जो भट्ट और चार्वाक हैं, उनके सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करता है इस कारण अकिंचित्कर भी नहीं है । इस प्रकारसे 'अनुमानका विषय होनेसे' यह हेतु यचन है सो; अभिन्न, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कररूप जो हेतुके दूषण है उनसे रहित है; इस कारण सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करता ही है । इस उक्त प्रकारसे सर्वज्ञके सद्भावमें पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूपसे पांच अंगोंका धारक अनुमान जानना चाहिये ॥

किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शं विनमानेऽपि प्रतिविम्बानां परिज्ञानं न भवति, तथा लोचनम्यानीयसर्वज्ञतागुणरहितपुरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथितानां प्रतिविम्ब-स्थानीयपरमाण्वाद्यनन्तसूक्ष्मपदार्थानां कापि काले परिज्ञानं न भवति । तथाचोक्तं " यस्य नास्ति स्वर्यं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् । लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १ ॥ " इति संश्लेषेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र बोद्धव्या । एवं पदस्थविण्डस्वरूपस्थध्याने ध्येयभूतस्य सकलात्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता ।

और जैसे नेत्रहीन पुरुषको दर्पण (शीसे) के विद्यमान होनेपर भी प्रतिबिंबोंका ज्ञान नहीं होता है, इसीप्रकार नेत्रोंके स्थानभूत जो सर्वज्ञतारूप गुण है उससे रहित पुरुषको दर्पणके स्थानभूत जो वेदशास्त्र है उसमें कहेहुए जो प्रतिबिंबोंके स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं उनका कित्ती भी कालमें ज्ञान नहीं होता है । सो ही कहा है कि—“ जिस पुरुषके स्वयंबुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है । क्योंकि नेत्रोंसे रहित पुरुषके दर्पण क्या उपकार करेगा. भावार्थ—जैसे नेत्रहीन पुरुषको दर्पणसे कुछ लाभ नहीं इसी प्रकार बुद्धिहीन पुरुषको शास्त्रसे कोई लाभ नहीं है । १ । इस प्रकार यहां संश्लेषसे सर्वज्ञकी सिद्धि जानना चाहिये । ऐसे पदस्थ, विण्डस्थ पीर रूपस्थ इन तीनों ध्यानोंमें ध्येयभूत (ध्यान करने योग्य) जो सकल आत्माके धारक थी जिनेन्द्र भट्टारक हैं; उनके व्याख्यानरूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५० ॥

अथ सिद्धसदृशानिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूपं 'णमोसिद्धाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थं ध्यानं तस्य ध्येयभूतं सिद्धपरमेष्ठिनस्वरूपं कथयति ।

अथ सिद्धोंके समान जो परमात्मस्वरूप है; उसमें परमसमरसीभावको धारण करनेरूप जो रूपातीत नामक निश्चय ध्यान है, उस रूपातीत ध्यानके परंपरासे कारणभूत-मुक्तिमें प्राप्त हुए जो सिद्ध परमेष्ठी हैं; उनकी भक्तिरूप—“ णमोसिद्धाणं ” इस पदके बोलनेरूप

लक्षणका धारक जो पदस्थध्यान है, उस पदस्थध्यानके ध्येयभूत जो सिद्धपत्नी है उनके स्वरूपका कथन करते हैं ।

गाथा:—णट्टट्टकम्मदेहो लोपालोयस्स जाणओ दट्ठा ।

पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्ञाणह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

गाथाभावार्थ:—नष्ट होगया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा मनो-काशका जानने देखनेवाला, पुरुषके आकारका धारक—और लोकके शिखरपर विराजन्त ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है इसकारण तुम उसका ध्यान करो ॥ ५१ ॥

व्याख्या । 'णट्टट्टकम्मदेहो' शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिरेरकर्म-काण्डस्य निर्मूलनसमयेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावतोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितरम्य-दैकलक्षणसुन्दरमनोहरानन्दस्वदिनिःक्रियाद्वैतशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशितमनः-वर्णानुप्रकर्मोद्धारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेहः । 'लोपालोयस्स जाणओ दट्ठा' पूर्ण-ज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयेन लोकालोकागतप्रकाशात्-सामान्यस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावानामेकसमयसायकदर्शकत्वात् लोकालोकस्य सा-दृश भवति । 'पुरिसायारो' निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमधिबुच्छलननिर्भरशुद्धरूपारो-निगाकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिद्भूतपरमशरीराकारेण गतसिन्धुपुष्पाभार-स्वप्नावाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः । 'अप्पा' इत्युक्तलक्षण आत्मा किं भव्यते 'सिद्धो' अत्र-गिद्धपदुक्तगिद्धगुटिकासिद्धगृहसिद्धमायासिद्धादिलौकिकमिद्धविलक्षणः केवलज्ञान-मग्नगुणव्यक्तलक्षणः सिद्धो भव्यते । 'ज्ञाणह लोयसिहरत्थो' तन्निर्भूत गिद्धपत्नी-विनं शोकशम्यारो-दृष्टशुभानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमन्वयमनोरथरूपनानाविधमग्न-ज्ञानेन त्रिगुणिलक्षणरूपानीतध्याने स्थित्वा ध्यायत हे भव्या सूर्याग्नि ॥५१॥ एवं सिद्ध-गिद्धपरमेष्ठिध्यायानेन गाथा गता ॥

व्याख्यार्थ:—'णट्टट्टकम्मदेहो' शुभ-अशुभ-मन वचन और कायकी क्रिया, द्वैत इग शब्दमे कहे जाने योग्य जो कर्मोका कांड (गमूट) हे उगका नाम करेके कर्मरूप, निव्रगुद्ध-आत्मस्वरूपकी भावनामे उत्पन्न रागादिविकल्परूप उपाधिमे रहित, एवं चन्दमय एक लक्षणका धारक—, सुन्दर और मनको हरण करनेवाला ऐसा जो भवने उमको बड़नेवाला, क्रियागदित और अद्वैत इग शब्दमे कहे जानेवाला ऐसा जो परमदत्त काण्ड, उमके द्वारा नामको प्राप्त किये हैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप और शक्ति भादि देह (शरीर) विमले ऐसा होनेमे नष्ट दिया हे अष्टकर्मरूप देह विमले ऐसा । 'लो-पालोयस्स जाणओ दट्ठा' पदमे कहेहुए ज्ञानकाण्डकी भावनाका फलरूप जो सर्व भेदो-निर्भेद-ज्ञान और दर्शनका युगल हे उमके द्वारा लोक तथा मनोकर्म प्राप्त जो भूत-वर्ण-व्यक्त और बदनरूप-रहे मनकांड समस्त पदार्थ हे उन पदार्थों का सर्व सम्बन्ध हे सिद्ध परमेष्ठिध्यायानेन गाथा गता हे उनका एक ही समयमें जानने और दानर-या होनेमे देह

तथा अलोकका जानने देखनेवाला होता है । 'पुरितायारी' निश्चयनयत्री अवेशमे इन्द्रियोंके अगोचर-मूर्धिरहित-परमज्ञानके उल्लङ्घनेसे मत्ता हुआ ऐसा जो शुद्ध स्वभाव है उसका धारक होनेसे आकाररहित है; तो भी व्यवहारसे भूतपूर्वनयत्री अवेशमे अंतिम शरीरसे कुछ न्यून (कम) आकारको धारण करता है इस कारण मोमरहित मूमेके बी-बके आकारकी तरह अथवा छायाके प्रतिबिंबकेसमान पुरुरके आकारको धारण करने-वाला है । "अप्पा" इन पहले कहे हुये लक्षणोंका धारक जो आत्मा है वह क्या कह-लाना है 'मिद्धो' अंजनमिद्ध, पादुकामिद्ध, गुटिकामिद्ध, रत्नसिद्ध और मायामिद्ध आदि जो लौकिक (लोकमें कहे जानेवाले) मिद्ध हैं उन सिद्धोंमें भिन्न लक्षणका धारक-कैवल्य ज्ञान आदि अनंतगुणोंकी प्रकटता रूप लक्षणका धारक मिद्ध कहलाना है । 'उन्नाप्ह लो-रसिहरत्थो' लोकके शिखरपर विराजमान उस हम पूर्वोक्तलक्षणके धारक मिद्ध परमेष्ठीकी उच्चव्यजनों । तुम देखे-गुने-अनुभव किये हुए जो पांचों इन्द्रियोंके भागोंको आदिने अपूर्ण मनोरथोरूप अनेक विकल्पोंका समूह उसका त्याग करिके और मन, वचन तथा श्राय इन तीनोंकी गुप्ति स्वरूप जो रूपानीत ध्यान है उसमें स्थित होकर ध्याये ॥ ५१ ॥ इस प्रकार निष्कल (शरीररहित) मिद्ध परमेष्ठीके व्याख्यान द्वारा यह गाथा समाप्त हुई ।

अथ निरुपाधिगुणात्मभावनाभूतनिर्भयपञ्चाचारलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं निश्चयव्यवहारपञ्चाचारपरिणताचार्यभक्तिरूपं 'जमो आचारिदार्यं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदमभ्यासानं तस्य ध्येयभूतमाचार्यपरमेष्ठिनं कथयति ।

अथ उपाधिरहित जो शुद्ध आत्माकी भावना तथा अनुभूति (अनुभव) का साक्षात्कार है उसमें आत्मिकी धारण करनेवाला जो निश्चय नयानुसार पांच प्रकारका आचार्य ही है लक्षण जिनका पैसा जो निश्चयध्यान उम निश्चयध्यानका परंपरागत परमभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकारके पांच आचार्योंमें परिणत (तत्पर या तत्कीन) होने जो आचार्य परमेष्ठी उनकी भक्तिरूप और "जमो आचारिदार्यं" इस पदके उच्चारण करने (बोलने) रूप लक्षणका धारक ऐसा जो परमध्यान है उम परमध्यानके ध्येयभूत जो आचार्य परमेष्ठी है उनके स्वरूपका निरूपण करते हैं ।

गाथा १—दंमणणाणपहाणे धीरिष्यारिक्खवरत्तयायारे ।

अप्यं परं थ जुंजह म्मो आपरिओ मुणी उरोओ ॥ ५२ ॥

गाथाभाषार्थः—दर्शनाचार १ ज्ञानाचार २ धीर्याचार ३ चारित्राचार ४ और लक्षण-णाचार ५ इन पांचों आचार्योंमें जो आप भी तत्पर होने हैं और अन्वेषित्योंकी भी लक्षणें हैं ऐसे आचार्यगुणि ध्यान करने योग्य हैं ॥ ५२ ॥

'दंमणणाणपहाणे धीरिष्यारिक्खवरत्तयायारे' सम्मत्दर्शनज्ञानस्थाने धीर्यचारिक्खवरत्तयायारे पधारणाचारिक्खरणभूते 'अप्यं परं थ जुंजह' आत्मानं पर सिद्धयजनं थ दोऽसि

योजयति सम्बन्धं करोति 'सो आयरिओ गुणी ज्ञेओ' म उक्तलक्षण आचार्यो मुनिमतेषु
ध्येयो भवति । तथा हि—भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयमाग्नाच्छब्दाच्चो भावकर्मद्रव्य-
नोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः म्यशुद्धानैवोपादेय इति
रुचिरूपसम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः ॥ तस्मैव शुद्धान्तो निश्चय-
स्वसम्बेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरगादिपरभावेष्वः पृथग्रूपरिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्र
चरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः । तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिग्रहितस्वामाविष्णुना
देन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचारः । समस्तद्रव्य-
च्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिर्गङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे पतनविर-
यनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः । तस्मैव निश्चयचतुर्विंशत्य-
रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगृहणं निश्चयवीर्याचारः । इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारे तथैव "छन्दो-
सगुणसमग्रे पंचविहाचारकरणसन्दर्शिते । मिस्मानुग्गहकुमले धम्मायरिए सदा वेदे । १ ।"
इति गाथाकथितक्रमेणाचाराधनादिचरणशास्त्रवित्सीर्णवहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यग्रशत
पञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बन्धं करोति स आचार्यो भवति । स च पर-
ध्याने ध्यातव्यः । इत्याचार्यपरमेष्ठिव्याख्यानेन सूत्रं गतम् ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थः—“दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवर्तवायारे” आधारभूत सम्पूर्ण
दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानचार है प्रधान जिसमें ऐसे वीर्याचार चारित्राचार और तपश्च-
णाचारमें “अप्यं परं च जुंजइ” अपनी आत्माको और अन्य शिष्यजनोंको जो लगाते हैं
“सो आयरिओ मुनी ज्ञेओ” वे पूर्वोक्त लक्षणवाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य
होते हैं । उसीका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि, भूतार्थ (निश्चय) नयका विषयभूत
'शुद्धसमयसार' इसशब्दसे कहने योग्य, भावकर्म—द्रव्यकर्म—नोर्कर्म आदि जो समस्त प-
पदार्थ हैं उनसे भिन्न; और परमचैतन्यका विलासरूप लक्षणका धारक ऐसा जो निज शु-
आत्मा है वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है इस प्रकारकी रुचि होने रूप सम्यग्दर्शन
है; उस सम्यग्दर्शनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन करना है उसको निश्चयदर्शनाचार
कहते हैं ॥ १ ॥ उसी शुद्ध आत्माका जो उपाधि रहित स्वसंबेदन (अपने जानने) रूप
भेदज्ञानद्वारा मिथ्यात्व—राग आदि परभावोंसे भिन्न जानना है वह सम्यग्ज्ञान है; उसमें वं
आचरण (परिणमन) करना अर्थात् लगना है वह निश्चयज्ञानाचार है ॥ २ ॥ उ-
शुद्ध आत्मामें राग आदि विकल्परूप उपाधिसे रहित जो स्वभावसे उत्पन्न हुआ सु-
उसके आत्मासे निश्चल चित्तका करना है उसको वीतरागचारित्र कहते हैं; उसमें जो अ-
चरण करना है वह निश्चयचारित्राचार कहलाता है । ३ । समस्त परद्रव्योंमें इच्छाके रोक-
नेसे, इसीप्रकार अनशन अवमौदर्य आदि वारह प्रकारके तपको करने रूप बहिरंगमहत्कारी-
कारणसे जो निज स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजयन है वह निश्चयतपश्चरण कहलाता है
उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन है उसको निश्चयतपश्चरणाचार कहते हैं । ४ । इन

पूर्वांश दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप भेदोंमें चार प्रकारका जो निश्चय आचार है: उगकी श्लोकान्तिये जो अपनी शक्ति (ताकत) का नहीं छिपाना है वह निश्चयवीर्या-चर है । ५ । ऐसे बड़े हुए लक्षणोंका धारक जो निश्चयनयसे पांच प्रकारका आचार है उसमें, और हमीचकारमें "छपीसगुणोंमें सहित, पांच प्रकारके आचारको करनेका उपदेश-देनेवाले, तथादिध्योपर अनुग्रह (कृपा) रगनेमें, चतुर ऐसे जो धर्माचार्य है उनको मैं सदा बंदना हूँ । १ ।" इस गाथामें बड़े हुए क्रमके अनुगार मूल्याचार, भगवती आराधना भादि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें विस्तारमें बड़े हुए बहिरंगसहकारीकारणों रूप जो व्यवहारनयसे पांच प्रकारका आचार है उसमें जो अपनेको तथा परको लगाते हैं अर्थात् आप उस पांचाचारको साधते हैं और दूसरोंको गधाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं । और वे आचार्य परमेष्ठी पदस्वध्यानमें ध्यान करने योग्य है ॥ इसप्रकार आचार्यपरमेष्ठीके व्याख्या-नमें १ गाथाग्रस समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्यायस्तल्लक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्प-
येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नत्रयादितत्त्वोपदेशकं परमोपाध्यायभक्तिरूपं ' जमो उवज्ज्ञायाणं '
इति परोक्षारणलक्षणं यत् पदस्वध्यानं, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीधरं कथयति ।

अब निज शुद्ध आत्मामें जो उत्तम (बारांवार) जम्पास करना है उसको निश्चय स्थाप्याय कहते हैं । उस निश्चयस्थाप्यायरूप स्वरूपका धारक जो निश्चयध्यान है उसके परंपरासे कारणभूत, भेद अभेद रूप रत्नत्रय भादि तत्त्वोंका उपदेश करनेवाले और परम-उपाध्यायभक्तिस्वरूप "जमो उवज्ज्ञायाणं" इस पदके उच्चारणरूप पदस्वध्यानके ध्येयभूत (ध्यान करने योग्य) ऐसे जो उपाध्याय परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका कथन करते हैं ।

गाथा ।—जो रयणस्तयजुतो गिचं धम्मोवदेसणे गिरदो ।

सो उवज्ज्ञाओ अप्पा जदिवरवसहो जमो तरस ॥ ५३ ॥

गाथाभाषार्थः—जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयसे सहित है; निरन्तर धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर है; वह आत्मा मुनीधरोंमें प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है । इसलिये उसके अर्थ मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥

व्याख्या ।—' जो रयणस्तयजुतो ' योऽसौ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः परिणतः। ' गिचं धम्मोवदेसणे गिरदो ' पदद्रव्यपश्चात्तिकायसमतत्त्ववनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं स्वशुद्धजीवात्मिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेष च हेयं, तथैवोत्तमक्षमा-दिधर्म च नित्यमुपदिशति योऽसौ स नित्यं धर्मापदेशने निरतो भण्यते । ' सो उवज्ज्ञाओ अप्पा ' सचेत्यभूतो आत्मा उपाध्याय इति । पुनरपि किं विशिष्टः ।—'जदिवरवसहो' पश्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणां यतिवराणां मध्ये कृपमः प्रधानो यतिवर-कृपमः । ' जमो तरस ' तस्मै द्रव्यभावस्वरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु । इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यान-रूपेण गाथा गता ॥ ५३ ॥

व्याख्यार्थः—“जो रयणत्तयजुत्तो” जो बाह्य तथा आभ्यन्तरूप स्वतंत्र अनुष्ठान (साधने) से युक्त हैं अर्थात् निश्चय-व्यवहार स्वरूप रत्नत्रयके साधनें से हुए हैं, “गिघं घम्मोवदेसणे णिरदो” जीव, अजीवादि छः द्रव्य, पांच ब्रह्म, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंमें निजशुद्ध आत्म द्रव्य, निज-शुद्ध जीवास्तिकाय, निज-शुद्ध आत्मतत्त्व और निजशुद्ध-आत्मपदार्थ ही उपादेय है; अन्य सब त्यागने योग्य हैं; विषयका तथा इसीप्रकार उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका जो निरन्तर उपदेश देते हैं; नित्य धर्मोपदेश देनेमें तत्पर कहलाते हैं; इस कारण नित्य धर्मोपदेशनमें उत्तर से “अप्पा” आत्मा हैं; वे “जद्विवरवसहो” पांचो इन्द्रियोंके विषयोंको जीतनेमें निज-शुद्ध-आत्मामें प्रयत्न करनेमें तत्पर ऐसे यतिवरो (मुनीश्वरों) के मध्यमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे ‘उवञ्जाओ’ उपाध्याय परमेष्ठी हैं “णमो तस्स” उन उपाध्याय परमेष्ठीके अर्थ मेरा द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठीके व्याख्यानमें एक गाथामूत्र पूर्ण हुआ ॥ ५३ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं वासाभ्यन्तरमोक्षमार्गमात्रं परमसाधुभक्तिरूपं ‘णमो लोए सध्वसाहूणं’ इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षणं यन् परम्परतन्म ध्येयभूतं साधुपरमेष्ठिसरूपं कथयति ।

अथ निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं जो निश्चयध्यान है उसके परंपरामें कारणभूत, बाह्य आभ्यन्तररूप मोक्षमार्गके साधनेवाले और परमसाधुभक्तिस्वरूप जो “णमो लोए साधनं हूणं” यह पद है इसके मोलने-जापकरने और ध्यान करनेरूप लक्षणका धारण करके परम ध्यान है उसके ध्येयभूत ऐसे जो साधु परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका निष्ठा करने है ॥

गाथा ।—दंसणणाणसमगगं मगगं मोक्खस्स जो हु चारिसं ।

माधयदि गिघसुखं साह स सुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥

गाथाभावार्थः—जो दशनं और ज्ञानमें पूर्ण, मोक्षका मार्गभूत, और सरासुत्र से चरित्रको प्रकट रूपमें साधने हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं उनके अर्थ मेरा नमस्कार होय ।

व्याख्यार्थः—‘साह स सुणी’ न मुनिः साधुमेवति । यः धि करोति — जो हु साधु है । यः कसो हु सृष्टे साधयति । धि ‘चारिसं’ चारित्र्यं कथयन्तं ‘दंसणणाणसमगगं’ संशयसमस्तदशनंज्ञानाख्यां समर्थ परिपूर्णम् । पुनरपि कथयन्तं ‘मागं मोक्खस्स’ मार्गं मोक्षस्स । पुनश्च धि रूपं ‘गिघसुखं’ नित्य सर्वकालं सुखं साधयति । ‘णमो तस्स’ कसं सुणीं चिन्तो यस्मिं साधने ममो नमस्कारोति । तथाहि “जगो ननु मुनेषो निर्वृतं च निश्चयम् । एतद्वदन्तश्चरन्तश्च समासात्क्याप्यन्तराधना मति ॥ १ ॥” इत्यादि ।

बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्त्ता धीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशु-
द्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति । तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो
भावनमस्काररूपा 'णमो लोए सच्चसाहृणं' द्रव्यनमस्कारश्च भवत्विति ॥ ५४ ॥

व्याख्यानार्थः—“जो” जो ‘हु’ भले प्रकारसे “दंसणणाणसमगं” धीतराग सम्य-
दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण, “मगं मोक्षस्स” मोक्षका मार्ग (कारण) भूत, “णिच्च-
सुद्धं” सदा शुद्ध अर्थात् राग द्वेषादि रहित ऐसे “चारिस्सं” चारित्रको “साधयत्ति”
साधते है “साहू स सुणी” ये मुनि साधु हैं “णमो तस्स” इन पूर्वोक्त गुणोंसे सहित
जो हैं उन साधु परमेष्ठियोंके अर्थ नमस्कार हो। सो ही स्पष्टरूपसे दिखलाने हैं कि—“दर्शन,
ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निम्नरण है
उसको सन्तुष्टोंने आराधना कही है। १।” इस आर्याछन्दसे कही हुई जो बहिरंग-दर्शन,
ज्ञान, चारित्र और तपभेदोंसे चार प्रकारकी आराधना है उस आराधनाके बलसे तथा
इसीप्रकार “सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सतप ये चारो आत्मामें निधाम
करते हैं इस कारण आत्मा ही मेरे कारणभूत है। १।” इस गायामें कही हुई जो निधय
नयसे अम्यन्तरकी चार आराधना हैं उनके बलसे अर्थात् बाह्य मोक्षमार्ग और अम्यन्तर
मोक्षमार्ग करके जो धीतरागचारित्रका अविनाभूत निज शुद्ध आत्माको साधते हैं अर्थात्
भावते हैं; वे साधु परमेष्ठी कहलाने हैं। उन्हींके लिये मेरा स्वभावसे उत्पन्न-शुद्ध-एगो
सदानन्दकी अनुभूतिलक्षण भावनमस्कार तथा “णमो लोए सच्चसाहृणं” एग पदके
उच्चारणरूप द्रव्यनमस्कार हो ॥ ५४ ॥

एवमुक्तप्रकारेण गायत्र्याश्रितेन मध्यमप्रतिपत्त्या पञ्चपरमेष्ठिभिरूपं ज्ञानव्यपु । अथवा
निधयेन “अग्निहासिद्धायरियाउबगतायागाधुपंपरमेष्ठी । ते वि हु षिट्टिदि पादे तथा आत्मा
हु मे कारणं । १।” इति गायत्र्यधिकारमेण संक्षेपेन, तथैव विलोकेण पञ्चपरमेष्ठिमन्थवि-
नममेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धपत्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रबादसंबन्धिपञ्चनमस्कारमन्थे
चेति । एवं गायत्र्याश्रितेन द्वितीयगच्छं गतम् ।

इस कहे हुए प्रकारसे पांच गायत्रीद्वारा मध्यम रुचिके धारक शिष्योंको ज्ञान होनेके
लिये पांच परमेष्ठियोंके स्वरूपका कथन किया गया है; यह जानना चाहिये। अथवा निधय-
नयमें “अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी जो है वे भी
आत्मामें ही निष्ठते हैं; इस कारण आत्मा ही मेरे कारणभूत है। १।” इस गायामें कहे
हुए जगानुसार संक्षेपसे पांच परमेष्ठियोंका स्वरूप जानना चाहिये। और दिग्गारमे पांच
परमेष्ठियोंका स्वरूप पञ्चपरमेष्ठी नामक ग्रन्थमें बड़े हुए क्रमसे जानना चाहिए। तथा
अत्यन्तविस्तारसे सिद्धपत्र आदि देवोंके पूजनविधिरूप जो मन्त्रबादसंबन्धी पंचनमस्कार
गाह्यात्मनामक ग्रन्थ है उसमें पांच परमेष्ठियोंका स्वरूप जानना चाहिये। इन प्रकार पांच
गायत्रीसे हमारा स्थान समाप्त हुआ ॥

अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकाशयति । पुनरप्याह । तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यानलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानचतुर्थपादेन नयविभागं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्या भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब फिर भी उसी, ध्यानको विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चयरूप जो प्र प्रकार है उनसे संक्षेप करके कहते हैं । उसमें गाथाके प्रथम पादमें ध्येयका लक्षण कहते हैं, द्वितीय पादमें ध्याता (ध्यान करनेवाले) का लक्षण कहता हूँ, तीसरे पादमें ध्यानका लक्षण कहता हूँ और चौथे पाद (चरण) से नयोंके विभागको कहता हूँ । इस अभिनयके मनमें धारण करके भगवान् श्री नेमिचन्द्रस्वामी इस अग्रिम सूत्रका प्रतिपादन करते हैं ।

गाथा । जं किंचिचि चिंततो णिरीहवित्ती ह्वे जदा साह ।

लक्षणाय एयसं तदाह तं तस्स णिच्छयं ज्ञाणं ॥ ५५ ॥

गाथाभावार्थः—ध्येय पदार्थमें एकाग्र चित्त होकर जिस किसी पदार्थको ध्यान हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति (सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित) होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

व्याख्या—'तदा' तस्मिन् काले आहुर्मुच्यन्ति 'तं तस्स णिच्छयं ज्ञाणं' तत्तस्य निश्चयध्यानमिति यदा किं'निरीहवित्ती ह्वे जदा साह' निरीहवृत्तिनिस्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति । किं कुर्वन् 'जं किंचि चिंततो' यत् किमपि ध्येयवस्तुरूपेण वस्तु चिन्तयन्निति । किं कृत्वा पूर्व 'लक्षणाय एयसं' तस्मिन् ध्येये लक्ष्या किं? एकत्वं एकामचिन्तानिरोधनमिति । अथ विचारः—यत् किंच ध्येयमिन्दनेन चित्तुक्तं भवति ? प्रार्थनिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां निषयक्यायवचनवित्तनिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति । पश्चाद्भ्यामवशेन निरीहवृत्तिं मतिं शुद्धबुद्धैकस्वभावनिसमुद्भातमस्वरूपमेव ध्येयमिच्छुक्तं भवति । निस्पृहवृत्तेः पुनर्मिथ्यात्वं वेदत्रयं ह्याम्यादिपदकृतोधादिषुत्पृष्टरूपचतुर्देशाऽभ्यन्तरपरिमर्देण तथैव संवत्सरादिषु विषयमुवनेधनधान्यदामीदासकुप्यभाण्डाऽभिधानदशविधवहिरङ्गपरिमर्देण च तदिध्यातृस्वरूपमुच्छं भवति। एकामचिन्तानिरोधेन च पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं सिद्धं ध्यानलक्षणं मगितमिति । निश्चयशब्देन तु प्रार्थनिकापेक्षया व्यवहारप्रप्रयानुश्लेषनिश्चयः प्राज्ञः । निष्प्रयोगनिश्चलपुण्यापेक्षया व्यवहारप्रप्रयानुश्लेषनिश्चयो प्राज्ञः ॥ निष्प्रयोगेण व्यवहारप्रप्रयानुश्लेषनिश्चयो प्राज्ञः । विशेषनिश्चयः पुनरपि वक्ष्यमाणमिच्छुतीति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥

व्याख्यायः—“ लक्षणाय एयसं ” उम ध्येय पदार्थमें एकामचिन्तके निरोधेन तत्र होकर ध्यान एकाग्र होकर “ जं किंचिचि चिंततो ” जिस किसी पदार्थके ध्येयवस्तुके रूपमें चिन्तन करना हुआ “ निरीहवित्ती ह्वे जदा साह ” गाधु जब निष्प्रह वृत्ति ही धारण करनेवाला होता है “ तदाह तं तस्स णिच्छयं ज्ञाणं ” उम समय अवश्य ही निश्चय ध्यान होता है । अब विचारमें वर्तन करने है-

साधामें जो 'यन् किञ्चिन् ध्येयम्' अर्थात् 'जिम किमी भी ध्येय पदार्थको' ऐसा पद है उसमें क्या कहा गया है कि ! ध्यानकी प्रथम ही आरंभ करनेकी अपेक्षामें जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कर्माद्योंको दूर करनेके लिये तथा विषयको स्थिर करनेके लिये पंच परमेष्ठी आदि जो परद्रव्य हैं; वे भी ध्येय होते हैं, फिर जब अध्यात्मके यत्नमें विषय स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एकम्यमायका धारक जो निज-शुद्ध आत्मा है उसका स्वरूप ही ध्येय होता है, यह कहा गया है । 'और निःशुद्धवृत्ति होकर' यह जो वचन है हममें मिथ्यात्व १ पुषेद २ भविद ३ ननुंगवदेद ४ हास्य ५ रति ६ अति ७ शोक ८ भय ९ जुगुप्सा १० क्रोध ११ मान १२ माया १३ और मोह १४ इन रूप भीउह प्रकारके अन्तर्ग परिग्रहमें स्थित तथा हसीपकार शंभ १ वायु २ हिरण्य ३ सु-वर्ण ४ धन ५ धान्य ६ दामी ७ दाम ८ पुष्य ९ और भद्र १० नामक दशपञ्चमके वर्तित परिग्रहमें स्थित ध्यान करनेवालेका स्वरूप कहा गया है । और 'एवमभिव्यक्तानिरोधतो प्राप्त होकर' इस कथनमें पूर्वोक्त माना प्रकारके ध्यान करनेयोग्य पदार्थोंमें जो निश्चल्यता है उसको ध्यानका लक्षण कहा है । और "निश्चय ध्यान करते हैं" अर्थात् जो निश्चय शब्द है उसमें अध्यात्म करनेवाले पुन्यकी अपेक्षामें ही व्यवहारमूलकवर्ण अनुशुद्ध निश्चय लक्षण प्राप्त आदिमें और दिग्गके ध्यान मिश्र हो गया है ऐसे पुन्यकी अपेक्षामें शुद्धोपयोग-रूप लक्षणका धारक विषयनिश्चयशुद्धनिश्चय लक्षण करना आदिमें । हममें विशेष (क्वि-द्वैतका) जो निश्चय है यह आत्मके गुणमें कहा है । इस प्रकार गुणका अर्थ है ॥ ५५ ॥

अथ शुभाशुभमजोवपनकायनिरोधे कृते सत्यासति विरोधे भवति तदेव परमाद्यात्मनि सुप्रदिशति ।

अब ध्यान करनेवाला प्रायः शुभ आशुभात्म्य मन, वचन और वापका विशेष वा सुवर्ण पर जो आत्मामें स्थिर होता है वह आत्मामें स्थिर होता ही धाम प्राप्त है ऐसा उपदेश देने हैं ।

साधा । सा चिद्रूप सा जपहा सा चिन्महा चिन्विजेण होह धिरोह ।

आप्या अत्यदिम हओ हणमंय परे हथे उहाणं ॥ ५६ ॥

साधामावाप्यः— है शब्दी जगो' शुभ कुल भी भेदा मत वगे अर्थात् कर्तव्य अत्यन्तके मन वगे, शुभ भी मत भेदों और कुल भी मत विद्यते । जिसमें कि शुभात्म्य अत्य-करने आत्मामें स्थीन होकर स्थिर होवे, कर्मोंके जो आत्मामें स्थीन होना है वह परमाद्यात्मन है ॥ ५६ ॥

हवः सा । सा चिद्रूप सा जपहा सा चिन्महा चिन्विजेण होह धिरोह ।
 चिन्महा चिन्विजेण होह धिरोह । सा चिद्रूप सा जपहा सा चिन्महा चिन्विजेण होह धिरोह ।
 चिन्महा चिन्विजेण होह धिरोह । सा चिद्रूप सा जपहा सा चिन्महा चिन्विजेण होह धिरोह ।

होइ थिरो' येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स कः 'अप्पा' आत्मा । कयम्भूतः स्थिरो भवति 'अप्पमि रओ' सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक् भ्रद्धानज्ञानानुत्तररूपभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशाल्हादजनकसुखात्वादपरिणतिसहितं निजस्वस्वरतः परिणतसाह्यमानस्यचित्तसन्मयो भवति । 'इणमेव परं हवे ज्ञाणं' इदमज्ञाननुत्तरत्वे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टे ध्यानं भवति ।

व्याख्यार्यः—हे ज्ञानी जनो ! "मा चिद्धह मा जंपह मा चित्तह किंवि" निश्च निरंजन और क्रियारहित ऐसा जो निजशुद्ध आत्माका अनुभव है उसको रोझनेरूप जो शुभ अशुभ चेटारूप कायका व्यापार है उसको, इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पों तथा बहिरंगरूप वचनके व्यापारको और इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पोंके समूहरूप मनके व्यापारको कुछ भी मत करो "जेण होइ थिरो" जिन मन, वचन और कायस्वरूप तीनों योगोंके रोकनेसे स्थिर होता है; वह कौन ! "अप्पा" आत्मा कैसा स्थिर होता है ! "अप्पमि रओ" सहज शुद्ध ज्ञान और दर्शन स्वभावको धारण करनेरूप जो परमात्मतत्त्व है उसके-सम्यक् भ्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण करनेरूप जो अभेदरत्नत्रय है उस रूप जो परम ध्यान है उससे उत्पन्न और सब प्रदेशोंको आनंद पैदा करनेरूप पैसा जो शुभ उसके आख्यादरूप परिणति सहित निज आत्मामें परिणत, तत्तीन, तन्मय तथा तषिष्ठ होकर स्थिर होता है "इणमेव परं हवे ज्ञाणं" यही जो आत्माके गुणस्वरूप परिणमन होना है वह निश्चयसे परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान होता है ॥

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुप्तं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोद्यमानं रूपम् । तत्र पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते । तदेव शुद्धारमस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेव एकदेशव्यतिरूपविविधश्रितैकदेशशुद्धनिश्चयेन स्वशुद्धात्मसन्धिनिगुणसुप्तसाम्यजलसरोवरे रागादिमलप्रहितत्वेन परमहंसस्वरूपम् । इदमेकदेशव्यतिरूपं शुद्धनयनाः कथानमत्र परमात्मध्यानभावनातामसाद्यां यथा सम्भवं सर्वत्र योजनीयमिति ।

उम परमध्यानमें जिन हुए जीवोंको जो वीतरागपरमानंद सुप्त प्रति भागता है वही निश्चयमोद्यमानरूप है । वह दूसरे पर्यायनामोंमें क्या २ कहलाता है अर्थात् उसको धिय २ जन्मने योग कहते हैं सो कथन किया जाता है । वही शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही परमात्मका स्वरूप है, वही एक देशमें प्रकृटरूप जैसे विवर्धित एक देशशुद्धनिश्चयनामों निजशुद्ध आत्मके ज्ञानेन उत्पन्न जो सुप्त वही हुआ जो अमृतजलका सरोवर उममें तम छदि मनेमें रहित होनेके कारण परमहंस स्वरूप है । "इम परमात्मध्यानके भावनाके जन्मे ही कारणोंसे इम एकदेशव्यतिरूप शुद्धनयके व्याख्यानको सधाममत्र सब जगत् जगत् देना करनेसे आनंद स्वर्गमंद ये सब नाम एकदेशशुद्ध निश्चयनवही भावनामें है ऐसा कहना करनेसे ।

तदेव परमजलस्वरूप, तदेव परमधिष्ठानरूप, तदेव परमनिश्चयस्वरूप, तदेव परमशुद्धस्वरूप,

वदेव परमनिजस्वरूपं, वदेव परमस्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धस्वरूपं, वदेव निरञ्जनस्वरूपं, वदेव निर्मलस्वरूपं, वदेव स्वसत्त्वेद्वन्द्वज्ञानं, वदेव परमतरवज्ञानं, वदेव शुद्धात्मदर्शनं, वदेव परमात्मस्वरूपं, वदेव परमात्मनः दर्शनं, वदेव परमत्ववज्ञानं, वदेव शुद्धात्मदर्शनं, वदेव ध्येयमूतशुद्धपारिणामिकभावरूपं, वदेव ध्यानभावनास्वरूपं, वदेव शुद्धचारित्र्यं, वदेव अन्तरंगतत्त्वं, वदेव परमतत्त्वं, वदेव शुद्धात्मद्रव्यं, वदेव परमज्योतिः, वदेव शुद्धात्मज्योतिः, वदेव शैवात्मप्रगीतिः, वदेव शैवात्मसन्निधिः, वदेव स्वरूपोपलब्धिः, स एव निजोपलब्धिः, स एव परमात्माधिः, स एव परमानन्दः, स एव नित्यानन्दः, स एव सद्ज्ञानन्दः, स एव सदानन्दः, स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूपः, स एव परमरक्षाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एव भेदानिष्ठानिरोधः, स एव परमयोधः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव भूतार्थः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपञ्चापाटः, स एव समपञ्चाटः, स एवाध्यात्मसाटः, वदेव समतादिनिश्चयपञ्चाटयकस्वरूपं, वदेव भावेद्वन्द्वयस्वरूपं, वदेव बीतरगातामायिकं, वदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, वदेव कैवल्यज्ञानोत्पत्तिकारणं, वदेव सकलकर्मक्षयकारणं, वदेव निश्चयचतुर्विधाराधना, वदेव परमात्मभावना, वदेव शुद्धात्मभावनोत्पन्नशुद्धात्मभूतिरूपपरमकला, वदेव दिव्यकला, वदेव परमाद्वैतं, वदेव परमात्मपरमधर्मध्यानं, वदेव शुद्धध्यानं, वदेव रागादिविकल्पशून्यध्यानं, वदेव निष्कलध्यानं, वदेव परमस्वारथ्यं, वदेव परमबीतरगात्वं, वदेव परमसार्थ्यं, वदेव परमकत्वं, वदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमसमरसीभावः, इत्यादिसमस्तरगादिविकल्पोपाधिरहितपरमात्मादिकमुपलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्पि पर्यायनामानि विक्षेपानि भवन्ति परमात्मतत्त्वबिम्बिरिति ॥ ५६ ॥

वही परमब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवस्वरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमनिजस्वरूप है, वही परम निज आत्माकी प्रातिरूप लक्षणका धारक जो सिद्ध है उसरूप है, वही निरञ्जनरूप है, वही निर्मल (कर्ममलरहित) स्वरूपका धारक है, वही स्वसत्त्वेद्वन्द्व ज्ञान है, वही परमतरवज्ञान है, वही शुद्धात्माका दर्शन है, वही परम (उत्कृष्ट) अवस्थास्वरूप है, वही परमात्माका दर्शन है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही ध्यान करनेयोग्य जो शुद्ध पारिणामिकभाव है उस रूप है, वही ध्यानभावनास्वरूप है, वही शुद्ध चारित्र्य है, वही अन्तरंगतत्त्व तत्त्व है, वही परम (उत्कृष्ट) तत्त्व है, वही शुद्ध आत्मा द्रव्य है, वही परम ज्योतिः (ज्ञान) है, वही शुद्ध आत्माकी अनुभूति है, वही आत्माकी प्रतीति है, वही आत्माकी शक्ति विषयोत् साक्षात्कार है, वही निजआत्मस्वरूपकी प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थकी प्राप्ति है, वही परम समाधि है, वही परम आनन्द है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वभावसे उत्पन्न हुआ आनन्द है, वही सदानन्द है वही शुद्ध आत्मपदार्थके पदमूल वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्षका उपाय है, वही एवा वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है वही परम योग है, वही वही निश्चयनपके अनुसार जो ज्ञान दर्शन, चारित्र्य, तत्त्व औः

विकाररहितवदनमानरूपं भावश्रुतं च । तथैव च हिंसानृतसोयाप्रक्षपरिमहाणा द्रव्यभावरूपा-
णां परिहरणं प्रतपश्चक्रं चेति । एवमुक्तलक्षणतपःश्रुतमतसहितो ध्याता पुरुषो भवति ।
इत्येव ध्यानसामग्री चेति । तथाचोक्तं—“वैराग्यं तत्त्ववित्तानं नैर्मन्थ्यं समेधितता । परीपद-
ज्वलन्ति पश्चैने ध्यानहेतवः । १ ।

व्याख्यानार्थः—“तपश्शुद्धवदं चेदा ज्ञानाणरहधुरंधरो हवे जम्हा” जित कारणसे कि
तप, श्रुत और मतका धारक आत्मा ध्यानरूपी रथकी धुराको धारण करनेके लिये समर्थ
होता है । “तम्हा तत्तियणिरदा तद्दुद्धीए सदा होइ” इस कारणसे हे भव्यो ! उस ध्यानकी
प्रतिके अर्थ तप श्रुत और मतको संबंधसे जो त्रितय है उस त्रितयमें अर्थात् तपः श्रुत तथा मत
इन तीनोंके समुदायमें सर्वकाल (निरन्तर) तत्पर होवो । अब इसीका विशेष वर्णन करते हैं
कि—अननन (उपवासका करना) १ अवमौदर्य (कम भोजन करना) २ वृत्तिपरिसंख्या-
न (अटपटी वृत्तिको ग्रहण करके भोजन करने जाना) ३ रसपरित्याग (छ रसोंमेंसे एक दो
आदिरसोंका त्याग करना) ४ विविक्तशय्यासन (निर्जन और शुद्ध स्थलोंमें प्रयत्न करना
व बैठना) ५ कायक्रम (शक्तिके अनुसार शरीरमें परिश्रम लेना) ६ इन भेदोंसे छः प्रकार
का वाद्य तप और इसी प्रकार प्रायश्चित्त १ विनय २ वैषावृत्त्य ३ स्वाध्याय ४ कायोत्सर्ग
५ और ध्यान ६ इन भेदोंसे छः प्रकारका अन्तरंग तप ऐसे वाद्य तथा अभ्यन्तर दोनों
तपोंके भेदोंकी मिन्योनेमे बारह प्रकारका व्यवहारतप है । और उसी व्यवहारतपमें सिद्ध
होने योग्य निज शुद्ध आत्माके स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चयतप है ।
इसी प्रकार मूलाचार भगवनी आराधना आदि द्रव्यश्रुत, तथा उन शास्त्रोंके आधारसे अर्थात्
पठन पाठनसे उत्पन्न हुआ और विकाररहित निज शुद्ध आत्माके जाननेरूप ज्ञानका धारक
भावश्रुत है । तथा इसीप्रकार द्रव्य और भावरूप जो हिंसा, अज्ञान (मूंड) म्लेय (चोरी)
अन्न (कुसील) और परिग्रह हैं इनके त्यागरूप पांचमत हैं । ऐसे कहे हुए लक्षणके
धारक जो तप, श्रुत और मत हैं इनसे सहित हुआ पुरुष ध्याता (ध्यानकरनेवाला) होता
है । और इन तप, श्रुत तथा मतरूप ही ध्यानकी सामग्री है । सो ही कहा है कि “वैराग्य १
तत्त्वोंका ज्ञान २ वाद्य अभ्यन्तर रूप दोनोंपरिमहोसे रहितपना ३ राग और द्वेषकी रहिततारूप
साम्यभावका होना ४ और २२ परीषहोंका जीतना ५ ये पाचों ध्यानके कारण है । १ ।”

भगवन् ध्यानं तावन्मोक्षमार्गं भूतम् । मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यवन्धकारणरत्नाद्गतानि त्याग्या-
नि भवन्ति, भवद्भिः पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तप श्रुतप्रतानि व्यापारयानानि, तन्मूक्यं पठत इति ।
सप्रोत्तरं दीयते—प्रतान्येव केवलानि त्याग्यान्वेव न किन्तु पापबन्धकारणानि हिंसादिविकल्पः
रूपाणि ध्यानप्रतानि तान्यपि त्याग्यानि । तथाचोक्तं पूज्य पादस्वामिभिः—“अपुण्यमप्रतैः
पुण्य प्रतैर्मोक्षस्तोयोर्बन्ध । अन्नतानीव मोक्षार्थी प्रतान्यपि तनन्यजेत् ॥१॥ विरचनानि पूर्व

परित्यज्य ततश्च व्रतेषु तत्रिष्टो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपं परमात्मपदं प्राप्य पद्मोद्देशकः
 न्यपि त्यजति । तदप्युक्तं तैरेव—'अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। तत्रैतानि संश्रय
 परमं पदमात्मनः । १ ।'

यहां शिष्य शंका करता है कि, हे आचार्यभगवान् ! ध्यानतो मोक्षका मार्गभूत है कब
 मोक्षका कारण है । और जो मोक्षको चाहनेवाला पुरुष है उसको पुण्यबंधके कर्तव्य होने
 व्रत त्यागने योग्य हैं अर्थात् व्रतोंसे पुण्यका बंध होता है; और पुण्यबंध संसारका कारण है
 इसलिये मोक्षार्थी व्रतोंका त्याग करता है । और आपने तप श्रुत और व्रतोंको प्राप्त
 पूर्णताके कारण कहे सो यह आपका कथन कैसे घटता (सिद्ध होता) है ! अब इस शंकाका
 उत्तर दिया जाता है कि, केवल व्रत ही त्यागने योग्य हैं ऐसा नहीं किंतु पापबंधके कारण से
 हिंसा अदि भेदोंके धारक अव्रत हैं वे भी त्यागने योग्य हैं । सो ही श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा
 कि, "हिंसा आदि अव्रतोंसे पापका बंध होता है; और अहिंसादि व्रतोंसे पुण्यका बंध होता है
 तथा मोक्ष जो है वह पाप व पुण्य इन दोनोंके नाशसे होता है; इस कारण मोक्ष
 चाहनेवाला पुरुष जैसे अव्रतोंका त्याग करता है; वैसे ही अहिंसादि व्रतोंका भी त्याग करे । १ ।"
 विशेष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतोंका त्याग करके पश्चात् व्रतोंका धारक होकर
 निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्माके परम पदको प्राप्त होकर तदनन्तर पद्मोद्देश
 तोंका भी त्याग कर देता है । यह भी उन्हीं श्रीपूज्यपादस्वामीने समाधिप्राप्तके बाद
 कि "मोक्षको चाहनेवाला पुरुष अव्रतोंका त्याग करके व्रतोंमें स्थित होकर आत्माके परम
 पदको पावे और उस आत्माके परम पदको प्राप्त होकर उन व्रतोंका भी त्याग करे । १ ।"

अयं तु विशेषः—व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि । यानि तु
 सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुणिलक्षणस्य शुद्धात्मसम्बन्धित्वनिर्विक
 स्पध्याने स्वीकृतान्येव न च त्यक्तानि । प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि जायानि । इति चे
 च्छुच्यते—जीवपातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति । तथैवास्तवचनपरिहारेऽपि
 सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति । तथैव पादस्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्यागेऽप्युक्तं
 स्वयंप्रभया देशव्रतानि । तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुणिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिहाले त्यागः । न च
 समस्तशुभाशुभनिवृत्तिलक्षणस्य निश्चयव्रतस्येति । त्यागः कोऽर्थः । यथैव हिंसाविरुद्धाणां
 निवृत्तिसर्वैकदेशव्रतेष्वपि । कस्मादिदं चेन्—त्रिगुणावस्थायां प्रवृत्तिनिवृत्तिरुत्पत्तिरन्य
 स्वयमेवावच्छादो नास्ति । अथवा वस्तुतस्तदेव निश्चयव्रतम् । कस्मात्—सर्वनिवृत्तिरिति ।
 योऽपि पटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भगवत्पत्नी सोऽपि त्रिनदीनां गृहीत्वा शिष्यकथायनिवृत्ति
 रूपं क्षणमात्रं प्रवर्णितामं कृत्वा पश्चात्पुत्रोपयोग्यरूपपरव्रतवातेऽपि निश्चयव्रतस्यैव
 हीनरागमासाधिक्यमंशे निर्विकल्पसमाधीं शिष्या केवलज्ञानं लब्धवानिति । परं किमु न च
 स्तोत्रकाव्यकौटुका प्रवर्णितामं न जानन्तीति । तदेव भगवत्पत्नी शिष्याविवर्णनं करत्येव
 हे भगवन् त्रिनदीशान्तानन्दरं भगवत्पत्नीं द्रियति काले केवलज्ञानं प्राप्तिमिति श्रीते
 कर्तव्यमिति श्रीतेऽप्युक्तं तदेव भगवत्पत्नीं द्रियति काले केवलज्ञानं प्राप्तिमिति श्रीते

पांच मुष्टियोंसे उखाड़कर तोड़ते हुए ही अर्थात् पंचमुष्टी लोचकरनेके अनन्तर ही भरतचक्रवर्ती केवलज्ञानको प्राप्त हुए । १ ।”

अथाह शिष्यः । अस्य काले ध्यानं नास्ति । कस्मादिति चेत्—वत्तमसंहननाभावात्कुरु
 दशपूर्वगतधृतज्ञानाभावात् । अत्र परिहारः । शुद्धध्यानं नास्ति धर्मध्यानमस्तीति । एतयोर्
 मोक्षप्राभृते श्रीकृन्दकृन्दाचार्यदेवैः “भरते दुस्तमकाले घग्मगशाणं हवेद गानिरस । वे
 सहावठि एणहुमण्णइ सो दु अण्णाणी । १ । अज्जवि तिरयणमुद्धा अप्पा य्पाअ
 इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तच्छुचुदा णिच्चुदिं जंति । २।” तथैव तत्त्वानुशासनमन्त्रे षोडश
 वानी निषेयन्ति शुद्धध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः भेणीध्यां प्रातिरसित्तदा
 यथोक्तमुत्तमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन पुनरुत्तमसंहरणं
 शुद्धध्यानं भवति, तथोत्तमसंहननेनैव । अपूर्वगुणस्थानादधरानेषु गुणस्थानेषु पर्यथा
 तेषादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यस्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति । तदप्युक्तं तत्रैव तत्रैव
 शामने “यत्पुनर्वसकायम्य ध्यानमित्यागमे वचः । धेण्योर्ध्याने प्रतीत्योक्तं तत्रोत्तमसंहर
 णम् । १ ।” यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतधृतज्ञानेन ध्यातं भवति तदप्युत्सर्गवचनम् । अत्र
 व्याख्यानानेन पुनः पञ्चसमितिप्रिगुमिप्रतिपादकसारभूतधनेनापि ध्याने भवति केवलज्ञान
 मन्त्रसंग्रहादव्याख्यानं नास्ति तर्हि “तुममासं षोसन्तो सिवभूरी केवली जारो” इति
 मन्त्रसंग्रहनातिभागिनं व्याख्यानं कथं पठने ।

अब यहाँपर शिष्य कहता है कि, भो गुरु ! इस पंचम कालमें ध्यान नहीं है। यहाँ
 दश पूर्वगत धृतज्ञानाभावात् अत्र परिहारः । शुद्धध्यानं नास्ति धर्मध्यानमस्तीति । एतयोर्
 मोक्षप्राभृते श्रीकृन्दकृन्दाचार्यदेवैः “भरते दुस्तमकाले घग्मगशाणं हवेद गानिरस । वे
 सहावठि एणहुमण्णइ सो दु अण्णाणी । १ । अज्जवि तिरयणमुद्धा अप्पा य्पाअ
 इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तच्छुचुदा णिच्चुदिं जंति । २।” तथैव तत्त्वानुशासनमन्त्रे षोडश
 वानी निषेयन्ति शुद्धध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः भेणीध्यां प्रातिरसित्तदा
 यथोक्तमुत्तमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन पुनरुत्तमसंहरणं
 शुद्धध्यानं भवति, तथोत्तमसंहननेनैव । अपूर्वगुणस्थानादधरानेषु गुणस्थानेषु पर्यथा
 तेषादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यस्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति । तदप्युक्तं तत्रैव तत्रैव
 शामने “यत्पुनर्वसकायम्य ध्यानमित्यागमे वचः । धेण्योर्ध्याने प्रतीत्योक्तं तत्रोत्तमसंहर
 णम् । १ ।” यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतधृतज्ञानेन ध्यातं भवति तदप्युत्सर्गवचनम् । अत्र
 व्याख्यानानेन पुनः पञ्चसमितिप्रिगुमिप्रतिपादकसारभूतधनेनापि ध्याने भवति केवलज्ञान
 मन्त्रसंग्रहादव्याख्यानं नास्ति तर्हि “तुममासं षोसन्तो सिवभूरी केवली जारो” इति
 मन्त्रसंग्रहनातिभागिनं व्याख्यानं कथं पठने ।

तासे ग्यारह अंग चौदह पूर्वपर्यन्त श्रुत ज्ञान होता है, और जपन्यरीतिसे पांच सन्निधि तथा तीन गुणियों मात्र ही श्रुतज्ञान होता है ।

अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किं प्रयोजनम् । नैवं-अथ कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति । कथमिति चेत् स्वशुद्धात्मभावनावलेन संसारस्थितिं तोके कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति । येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतालेपि पूर्वभवेऽभेदरत्नत्रयभावनायां संसारस्थितिं तोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः । तद्वत् सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति । एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्—“वयवन्पच्छेददेहेन्द्राद्रागाद्य परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः । १ । संकल्पकलत्रसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् । तत्रार्थतलत्र चक्रानि न किं नापि पक्षे परं भवति कल्मषसंश्रयस्व । २ । दौर्बिध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तमुक्तेश्चित्तं यपोऽसत्तिते स्फुरितोत्तरङ्गम् । धान्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तत्र भवेद्विफला प्रसूतिः । ३ । कं खिद फलुसिदभूतो कामभोगेहि मुच्छिद्यो जीवो । ण य भुंजतो भोगे बन्धदि भावेन कम्पाणि । ४ ।” इत्याद्यपध्यानं त्यक्त्वा—समत्तिं परिव्रजामि णिममत्तिमुवद्विदो । आलंबनं च आदा अवसेसाइं वोसरे । १ । आदा कस्यु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य । आदा पव क्खाणे आदा मे संवरे जोगे । २ । एगो मे सत्सदो अप्पा णाणदसंणलक्खणो । मेत्ता ः पाहिरा भावा सच्च्ये संजोयलक्खणा । ३ । इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्त्तव्यमिति

अब कदाचित् तुम्हारा यह मत हो कि,—मोक्षके लिये ध्यान किया जाता है और जो इस पंचम कालमें होता नहीं है इस कारण ध्यानके करनेसे क्या प्रयोजन है । सो कसिद्धान्त भी ठीक नहीं । क्योंकि, इस पंचमकालमें भी परंपरासे मोक्ष है । परंपरासे मोक्ष कैसे है ? ऐसा पूछा तो उत्तर यह है कि; ध्यानी पुरुष निजशुद्ध आत्माकी भावनां मन्त्रमे संमार्गकी स्थितिको अल्प करके अर्थात् बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करके स्वर्गमें जाता है । और वहाँसे मनुष्यभवमें आकर रत्नत्रयकी भावनाको प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त जाता है और जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचंद्रजी तथा पांडव अर्थात् शुभिक्षि अर्जुन और भीम आदि मोक्षको गये हैं, उन्होंने भी पूर्वभवमें अमेदरत्नत्रयकी भावनां अपने संमार्गकी स्थितिको पटावली थी; इस कारण इस भवमें मोक्ष गये । उगी भव मन्त्रको मोक्ष हो जाता है ऐसा नियम नहीं है । ऐसे कहे हुए प्रकारसे अल्पश्रुतज्ञानमें ध्यान होना है । यह जानकर क्या करना चाहिये ? “द्वेषसे बध (मारना) बन्ध (बाधना) छेद (किसी अंगको काटना) आदिका और रागसे परस्त्री आदिका जो बिनबन काना है उसको जिनमतमें निर्मल बुद्धिके धारक आचार्य अपध्यान (सुर ध्यान) कहते हैं । १ । हे बीज संकल्परूपी कल्पवृक्षका आश्रय करनेमें तेरा वित्त इस मनोरथ सागरीमें डूब जा है; अंग उग्र संकल्परूपी कल्पवृक्षका आश्रय करनेमें यद्यपि इष्टपदार्थका अनुभव होता है परन्तु

कि, मोक्ष जो है वह बंधपूर्वक है अर्थात् जिसके पहले बंध होता है उमीकें मोक्ष कहते हैं। सो ही कहा है कि, 'जो यदि यह जीव मुक्त है तो पहले इस जीवके बंध ब्रह्म होना चाहिये। यदि कहे कि जीवके पहले बन्ध नहीं था तो जीवके मोचन (मुक्ति) कैसे हुआ! क्योंकि बिना बंधे हुए जीवके मोचन नहीं हो सकता। इस विषय बंधन नहीं प्राप्त हुए जीवके माननेमें मुन् धातुका जो छूटने रूप अर्थ है वह व्यर्थ होता है।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष पहले बंधा हुआ हो और फिर छूटे तब वह मुक्त कहलाता है। इसी प्रकार जो जीव पहले कर्मोंमें बंधा हुआ होता है उमीका मोक्ष होता है।

यह बन्ध शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं है। तथा बंधपूर्वक मोक्ष भी शुद्ध-निश्चयनयसे नहीं है। और यदि शुद्ध-निश्चयनयसे बंध होवे तो सदा ही इस आत्मके बंध मोक्ष होवे ही नहीं। जैसे शृंगला (सांकल व जंजीर) में बंधे हुए पुरुषके, बंधके नाशके कारणभूत जो भावमोक्ष है उसके स्थानवाला जो शृंगलाके बंधको छेदनेका कारणभूत पौरुष (उद्यम) है वह पुरुषका स्वरूप नहीं है। और इसी प्रकार द्रव्यमोक्षके स्थानके प्राप्त (एवजमें आया हुआ) जो शृंगला और पुरुष इन दोनोंका जुड़ा करना है वह भी पुरुषका स्वरूप नहीं है; किंतु उन पौरुष और पृथक्करणसे जुदा जो देखा हुआ इन पर आदि रूप आकार है; वही पुरुषका स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगलक्षण जो मोक्षका स्वरूप है; वह शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवका स्वरूप नहीं है। और उसी प्रकार उस भावमोक्षसे साध्य जो जीव और कर्मके प्रदेशोंको जुदा करने रूप द्रव्यमोक्षका स्वरूप है; वह भी जीवका स्वभाव नहीं है। किन्तु उन भावमोक्ष और द्रव्यमोक्षसे भिन्न जो प्रकृतज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है; वही शुद्ध जीवका स्वरूप है। यहां पर भावार्थ यह है कि, जैसे विवक्षित—एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे पहिले मोक्षमार्गका व्याख्यान किया है; उसीप्रकार पर्यायमोक्षरूप जो मोक्ष है उसका कथन भी विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे ही जानना चाहिये। और शुद्धनिश्चयनयसे नहीं। और जो शुद्ध-द्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपारिणामिक परमभावरूप लक्षणका धारक परमनिश्चयमोक्ष है वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है। वह परमनिश्चयमोक्ष जीवमें अब होगा ऐसा नहीं है। तथा राग आदि विकल्पोंसे रहित मोक्षका कारणभूत जो ध्यानभावनापर्याय है उसमें वही मोक्ष ध्येय होता है। और ध्यान भावनापर्यायरूप ध्येय नहीं है। और यदि एकान्त करके द्रव्यार्थिकनयसे भी वही मोक्ष कारणभूत ध्यानभावना पर्याय कहा जावे तो; द्रव्य और पर्यायरूप दो धर्मोंका आधार जो जीवधर्म है; उसके मोक्षपर्याय प्रकट होने पर जैसे ध्यानभावनापर्यायरूपमें विनाश होता है। उसी प्रकार ध्येयभूत जो जीव है उसका शुद्धपारिणामिकलक्षणभावद्रव्यरूपमें भी विनाश प्राप्त होता है। और द्रव्यरूपमें विनाश है नहीं। इस कारण शुद्धपारिणामिकभावमें जीवके बन्ध और मोक्ष नहीं होता है; यह कथन सिद्ध होगया।

अथात्मशब्दार्थः कथ्यते । अतथातुः सातत्यगमनेऽर्थं वर्त्तते । गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात्' । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुरादिगुणेषु आसमन्तान् अगति वर्त्तते यः स आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचनकायक्यापारैर्यथासंभवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा । अथवा उत्पादव्ययध्रौष्यैरासमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा । किञ्च—यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलपटेषु दृश्यते तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तच्च न घटते । कस्मादिति चेत्—चन्द्रकिरणोपाधिवशेन पटस्थजलपुद्गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकचन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणता, नचैकं देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणतम् । परिणमतीति चेत्—सर्हि दर्पणस्थप्रतिबिम्बं पैतन्यं प्राप्नोतीति । न च तथा । किन्तु यद्येक एव जीवो भवति, तदैकजीवस्य मुखदुःखजीवितमरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषां जीवितमरणादिके प्राप्नोति न च तथा दृश्यते ।

अत्र आत्मा शब्दका अर्थे कहते हैं । अतथातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थमें वर्त्तता है और 'सर्व गमनरूप अर्थके धारक धातु ज्ञान अर्थके धारक है' इस वचनसे यहाँ पर गमन शब्द करके ज्ञान कहा जाता है । इस कारण जो यथासंभव ज्ञान मुख आदि गुणोंमें पूर्णरूपसे वर्त्तता है वह आत्मा है । अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन वचन कायके व्यापार हैं उनकरके यथासंभव तीव्र मन्द आदि रूपसे जो पूर्ण रूपसे वर्त्तता है वह आत्मा बटलाना है । अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौष्य इन तीनोंकरके जो पूर्णरूपसे वर्त्तता है उसको आत्मा कहते हैं । और कितने ही ऐसा कहते हैं कि, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलके भी हुए पटोंमें देखा जाता है इसी प्रकार एक ही जीव अनेकशरीरोंमें रहता है सो यह उनका कथन घटता नहीं । क्यों नहीं घटता ? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि जलके पटोंमें चन्द्रमाकी किरणरूप उपाधिके वशसे पटमें विद्यमान जो जलके पुद्गल हैं वे ही अनेक प्रकारके चन्द्रमारूप आकारोंमें परिणत हुए हैं और एक चन्द्रमा जो है वह अनेकरूप नहीं परिणमा है । इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे—देवदत्तके मुखरूप उपाधिके वशसे अनेक दर्पणोंमें स्थित जो पुद्गल हैं वे ही अनेकमुखरूप परिणमते हैं और एक देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणमता है । यदि कहो कि, देवदत्तका मुख ही अनेक मुखरूप परिणमता है तो दर्पणस्थित जो देवदत्तके मुखका प्रतिबिम्ब है वह पैतन्यताको प्राप्त होवे; परन्तु ऐसा नहीं अर्थात् दर्पणमें जो मुखका प्रतिबिम्ब है वह पैतन्य नहीं है । और भी विशेष यह है कि यदि अनेक शरीरोंमें एक ही जीव हो तो जब एक जीवको मुख, दुःख जीवित और मरण आदि प्राप्त होवें तब उसी क्षणमें सब जीवोंको मुख, दुःख, जीवित और मरण आदि प्राप्त होवें और ऐसा देखनेमें नहीं आता है ।

अथवा ये वदन्ति यथैकोऽपि सगुण भावि क्षारजलः भावि मिष्टजलस्यैकोऽपि जीवः सर्वदेहेषु तिष्ठतीति । तदपि न घटते । कथं नति चेत्—जलदायकेशया तं मुख-वजले

सहैव किन्नायाति । ततः स्थितं पौडमवर्णिकासुवर्णं गमिष्वदनन्तज्ञानादिद्वयं प्रत्येकं जीव-
राशिं प्रति न शैकजीवापेक्षयेति । अथ्यात्मशब्दस्यार्थः कथयते ।
फलपजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानन्तदध्यात्ममिति । एवं
ख्यानोपसंहाररूपेण गाथा गता ॥ ५७ ॥

अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कहीं तो सारे जलवाला है, वही
मीठे जलका धारक है, उसी प्रकार एक ही जीव सब देहोंमें विद्यमान है' सो यह कथन
भी घटित नहीं होता । क्यों नहीं घटता यह पूछो तो उत्तर यह है कि, समुद्रमें जल-
शिकी अपेक्षासे एकता है और जलके पुद्गलोंकी अपेक्षासे एकता नहीं है । यदि जल-
पुद्गलोंकी अपेक्षासे एकता होती है तो समुद्रमेंमे अल्प (थोड़ा जल ग्रहण करतेपर ने
(बचा हुआ) जो जठ है वह भी साथ ही क्यों नहीं आ जाता है । इस कारण सोल्ल
वानीके सुवर्णकी राशिके समान अनन्तज्ञान आदि लक्षणोंके प्रति जीवराशिमें एकता है
और एक जीवकी अपेक्षासे जीवराशिमें एकता नहीं है । अब अध्यात्म शब्दका अर्थ कहे
हैं । मिथ्यात्व, राग आदि जो समस्त विकल्पोंके समूह हैं उनका त्याग करके जो निव
शुद्ध आत्मामें अनुष्ठान (प्रवृत्तिका करना) है उसको अध्यात्म कहते हैं । इसप्रकार ध्यानकी
सामग्रीके व्याख्यानके उपसंहाररूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५७ ॥

अथौद्धत्यपरिहारं कथयति ।

अब अंधकार अपने औद्धत्य (अभिमान) को दूर करनेके लिये अग्रिम छन्द कह का
शास्त्रको समाप्त करते है ।

द्रव्यसंग्रहमिणं मुणिणाहा

दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।

सोधयंतु तणुसुत्तधरेण

पेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥ ५८ ॥

काव्यभाषार्थः—अल्पज्ञानके धारक मुक्ष (नेमिचन्द्र मुनी) ने जो यह द्रव्यसंग्रह
कहा है इसको दोषोद्दहित और ज्ञानसे परिपूर्ण ऐसे आचार्य शुद्ध करें ॥ ५८ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रमिद्धान्तिदेवविनिर्मितो बृहद्द्रव्यसंग्रहः समाप्तः ।

व्याख्या । "सोधयंतु" शुद्ध कुर्वन्तु । के कर्त्तारः ? "मुणिणाहा" मुनिनाथा मुनि-
घानाः । किंविशिष्टाः ? "दोससंचयचुदा" निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषात्मापैर
च निर्दोषपरमात्मादितत्त्वपरिज्ञानविषये संशयविमोदविभ्रमात्सौश्रयुता रहिता दोषसंचय-
व्युताः । पुनरपि कथम्भूताः ? "सुदपुण्णा" वर्त्तमानपरमात्माभिधानद्रव्यभुक्तेन तथैव तत्ता-
भासेत्प्रतिनिधिकारस्यसर्वेदनज्ञानरूपभावभुक्तेन च पूर्णाः सममाः प्रथपूर्णाः । के सोधयन्तु ?
"द्रव्यसंग्रहमिणं" शुद्धमुद्देशस्वभावपरमात्मादिद्रव्याणां सन्नद्धो द्रव्यसंग्रहस्तं द्रव्यसंग्रह-

... ५८ ॥
 ... ५८ ॥
 ... ५८ ॥

व्याख्यार्थः—“सोधयंतु” शुद्ध करें, शुद्ध करनेवाले कौन हैं! “मुनिगारा”
 मुनिवने प्रधान अर्थात् आचार्य हैं, कैसे हैं वे आचार्य! “दोससंचयनुदा” दोषगद्दिन
 कल्पने भिन्न लक्षणके धारक जो राग आदि दोष है उनके, तथा निर्दोष परमात्मा आदि
 कलौहे जाननेमें जो संशय, विमोह और विभ्रमरूप दोष हैं उनके संचयसे रहित है,
 फिर कैसे है! “मुदपुण्या” इस समय विद्यमान परमात्म (धाम) नामक जो द्रव्यशुद्ध
 है उसमें तथा उस परमात्मके आधारसे उत्पन्न जो निर्विकार-निज आत्माके जाननेरूप
 भवशुद्ध है उससे परिपूर्ण हैं। वे आचार्य किमकी शुद्ध करें। “द्रव्यसंग्रहमिणं”
 शुद्ध-शुद्ध एकलभावका धारक जो परमात्मा है उसको आदि ले जो पुद्गल, धर्म,
 अपर्म, आकाश और कालरूप के द्रव्य है उनका है संग्रह जिसमें ऐसे इन मत्प्रथम
 विद्यमान द्रव्यसंग्रह नामक धारको शुद्ध करें। कैसे द्रव्यसंग्रहको शुद्ध करें। “मणिषे
 त्रं” जिस शब्द को कहा है। किन कर्त्ताने कहा है। “नेमिचंद्रमुनिगा” श्रीनेमिचन्द्र
 निदानिदेव नामक मुनिने अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि जो निश्चय और व्यवहार भेदमें पंच
 प्रकारका आचार है उस आचारसहित आचार्यने। कैसे नेमिचन्द्र आचार्यने। “तणुगुच्छो
 ष” अन्तर्ज्ञानके धारकने। इसप्रकार क्रिया और कारणोंका सम्बन्ध है। इस प्रकार अन्तर्ज्ञान
 तर्कधाररूप तीन गाथाओंसे तथा औद्धत्यके परिहारकेनिये एक प्राकृत छन्दसे (श्रीय
 अन्तराधिकारमें तृतीय सब समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥
 ऐसे दो अन्तराधिकारोंद्वारा बीस गाथाओंमें मोक्षमार्गप्रतिपादन नामा तृतीय

अधिकार समाप्त हुआ।

अत्र ग्रन्थे ‘विवक्षितस्य सन्धिर्भवति’ इति वचनात्प्रदानों सन्धिनिषेधो जालि। कावर्त्तानि
 मोहकोकानि कृतानि सुखसोपनार्थम्। सर्वेषु लिङ्गवचननि याचारव सम्बन्धसमासात्प्रदान
 त्वावयवमाश्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये विवक्षितदूषणं च विद
 नं प्राप्नोति।

एतद्ग्रन्थे ‘वक्त्राको जहां संधि करनेकी इच्छा हो वहां संधि होती है’ इस निषेधके
 कारण पदोंकी संधिका नियम नहीं है अर्थात् किसी स्थानमें संधि की गई है और वही स्थान
 १. अ- बुद्धियोंकी सुगमसे दोष होनेके निये वाक्य भी छोटे छोटे अक्षरोंके हैं।
 २. क्रिया, कारण, सम्बन्ध, समाप्त, विशेषण और द्रव्यत्व के अर्थ

